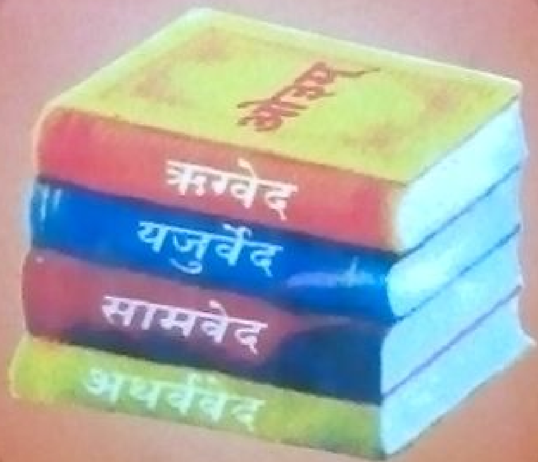
।। ओ३म् ।।

वैदिक संस्कृति



पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय



Dharam Prakash Arya
6/13

॥ ओ३म् ॥

वैदिक संस्कृति

(पं० श्री गंगाप्रसादजी उपाध्याय, एम० ए० कृत
अंग्रेजी पुस्तक—वैदिक कल्चर से अनुदित)

अनुवादक :-

श्री रघुनाथप्रसाद पाठक

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

भूमिका

''वैदिक संस्कृति'' श्रीयुत पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय कृत ''वैदिक कल्चर'' नामक अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। यह ग्रन्थ उपाध्यायजी की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में से है जिसके लिये पं० ठाकुरदत्त शर्मा अमृतधारा ट्रस्ट ने उन्हें ५००) के पारितोषिक से सम्मानित किया था। इस ग्रन्थ का जनता में यथेष्ट आदर हुआ है। भारतवर्षीय आर्य कुमार परिषद् ने इसे अपनी सिद्धान्त शास्त्री परीक्षा के पाठ्य-क्रम में स्थान प्रदान किया हुआ है। प्रथम संस्करण के समाप्त हो जाने और जनता की माँग की पूर्ति न हो सकने पर सार्वदेशिक सभा ने इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय किया। इस दूसरे संस्करण की दो विशेषताएँ हैं। एक तो इसमें प्रूफ संशोधन और छापे की भूलों का सुधार कर दिया गया है दूसरे इसका मूल्य इसे अधिक-से-अधिक सुलभ बनाने के लिये बहुत कम रखा गया है।

विश्वास है जनता इस ग्रन्थ का अपनाकर प्रकाशकों को तीसरे संस्करण के शीघ्र से शीघ्र प्रकाशन में समर्थ बनाएगी।

१९-३-५६

रामगोपाल
सभा मन्त्री

पूर्व-वचन

जिन लोगों ने वेद [illegible] वैदिक संस्कृति के सम्बन्ध में विदेशीय पौर्वात्य विद्वानों और यूरोपीय इतिहासकारों के लेखों के आधार पर अपनी सम्मति बनाई हुई है उन्हें अपने विचारों पर पुनर्विचार करने और उन्हें सुधारने के लिये श्रीयुत उपाध्यायजी की इस पुस्तक में प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी।

इस पुस्तक से श्री उपाध्यायजी की विद्वत्ता और वेदों के ध्यानपूर्वक अध्ययन का उत्तम परिचय मिलता है। अहिन्दू लेखकों ने इस विषय पर जो मनमानी स्थापनाएँ की हुई हैं उन्हें छिन्न-भिन्न करने में विद्वान् लेखक पर्याप्त सफल हुए हैं। श्रीयुत उपाध्यायजी ने कृषि, विविध खाद्यान्नों, पशु-रक्षा, कला-कौशल, उद्योग-धन्धे, व्यापार-व्यवसाय, गृह-निर्माण-विद्या, व्यक्तियों के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वैदिक समाज का निर्माण और वर्गीकरण आदि विषयों पर वेदों के उद्धरण प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया है कि वेदों में अत्युन्नत सभ्यता और संस्कृति का वर्णन मिलता है। वेदों के विविध अवतरणों के प्रकाश में पारिवारिक और दाम्पत्य जीवन के वैदिक आदर्श की भी व्याख्या की गई है।

सभ्यता एवं संस्कृति विषयक प्रचलित भौतिक विचारों की तुलना में वैदिक संस्कृति की विशिष्टता जिस उत्तम रीति से प्रतिपादित की गई है वह उपाध्यायजी की इस पुस्तक की उल्लेखनीय विशेषता है। उन्होंने यह भी प्रमाणित किया है कि वेदों के अनुसार संस्कृति की विभावना विशुद्ध आस्तिक और वैदिक शिक्षाओं की प्रवृत्ति आध्यात्मिक विकास है। इसके लिये मोक्ष की प्राप्ति तक जीवात्मा को एक नहीं अपितु अनेक जन्म धारण करने होते हैं।

निसन्देह इतिहास और समाज विज्ञान में रुचि रखनेवाले व्यक्तियों के लिये यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

—गोकुलचन्द नारंग

लेखक की भूमिका

वर्तमान जगत् में 'संस्कृति' ऐसा शब्द है जो अत्यन्त अस्पष्ट है और साथ ही जिसका अत्यन्त दुरुपयोग हुआ है। लोग मनमाने अर्थों में इसका प्रयोग करते हैं। समस्त राष्ट्रों का दावा है कि उनकी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् संस्कृतियाँ हैं परन्तु वे सब व्यष्टि रूप में पाशविकता के ताण्डव नृत्य को रोकने में कृतकार्य नहीं हो सकी हैं जिसने मानव समाज का रक्त चूसकर उसे निर्जीव बनाया और लोकोपकार का गला घोटा है। आज हिंसा को खुली छुट्टी मिली हुई है जो जीवन की प्रत्येक दिशा में घोर विनाश उत्पन्न कर रही है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से मेरी यह धारणा बन गई है कि संस्कृति की वैदिक भावना से ही संतप्त मानव-समाज को सुख और शान्ति मिल सकेगी। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर मैंने इस पुस्तक में वैदिक संस्कृति की कतिपय विशेषताओं को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

मैं पंजाब के भूतपूर्व शिक्षा-सचिव तथा 'संस्कृति' विषय के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत डॉ० गोकुलचन्द नारंग का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने कृपापूर्वक इस पुस्तक का पूर्व वचन लिखने का कष्ट किया है। मैं श्रीयुत पं० धर्मदेवजी विद्यावाचस्पति का भी आभारी हूँ जिन्होंने हस्त लिखित ग्रन्थ को पढ़ने और उपयोगी निर्देश देने की कृपा की है।

मैं आर्यसमाज तथा आर्य साहित्य के प्रेमी श्री जगन्नाथजी का भी आभार मानता हूँ जिनके दान से यह पुस्तक (Vedic Culture) अस्तित्व में आ सकी है। उनकी सामयिक आर्थिक सहायता से मैं चिन्तामुक्त हो गया हूँ। वे आर्यसमाज के बड़े भक्त हैं और ऐसे ही उनके बड़े भाई स्व० श्री कुन्दनलालजी थे जिनकी स्मृति में यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

—गंगाप्रसाद उपाध्याय

अनुवाद की भूमिका

मेरे सहयोगी श्री रघुनाथप्रसादजी पाठक ने आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् और यशस्वी लेख पं० श्री गंगाप्रसादजी उपाध्याय द्वारा लिखित 'Vedic Culture' का राष्ट्रभाषा में अनुवाद करके बड़ा उपयोगी कार्य किया है। Vedic Culture बड़ी योग्यता से लिखी हुई पुस्तक है जिसकी उत्तर और दक्षिण के प्रतिष्ठित समाचार पत्रों ने बड़ी प्रशंसा की है। हिन्दी में भी वैदिक संस्कृति के विषय में अनेक भ्रम प्रचलित हैं। 'सरस्वती' (प्रयाग), 'सरिता' (देहली) आदि पत्रिकाओं और Vedic Age आदि पुस्तकों में गत वर्षों में वैदिक संस्कृति विषयक बड़े भ्रमजनक लेख निकले हैं जिनसे स्पष्ट है कि सुशिक्षित महानुभावों को भी इस विषय में बड़ी भ्रान्तियाँ हैं जिनके निवारण की आवश्यकता है। श्री रघुनाथप्रसादजी Voice of Aryavarta आदि अनेक पुस्तकों का उत्तम अनुवाद कर चुके हैं। इस अनुवाद के भी प्राय: सब अंशों को देखने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है और मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि यह अनुवाद मूल के अनुकूल तथा उत्तम हुआ है जिसके लिये पाठक जी धन्यवाद के पात्र हैं। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी भाषा-भाषी जनता इस अनुवाद से पूर्ण लाभ उठायेगी और वैदिक संस्कृति के यथार्थ स्वरूप को समझ सकेगी।

—धर्मदेव विद्यावाचस्पति विद्यामार्तण्ड
भूतपूर्व मन्त्री सार्वदेशिक धर्मार्य सभा, देहली

विषय-सूची

संस्कृति का अर्थ क्या है ?

अंग्रेजी का कल्चर (Culture) शब्द लेटिन के कोलेरी (Colere) धातु से बना है जिसका अर्थ है जोतना, अथवा उपासना करना। इसका पहिला अर्थ कल्चर शब्द में और दूसरा Cult धर्म-विश्वास में निहित है। क्या दोनों अवस्थाओं में धातु एक ही है अथवा कुछ परिवर्तनों के साथ दो विभिन्न धातुओं में सादृश्य हो गया है ? यह प्रश्न है जिस पर भाषा शास्त्र के अन्वेषकों को विचार करना चाहिये। परन्तु Cult और Culture एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं। जोतना और उपासना करना ये दो भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ देख पड़ती हैं। परन्तु यदि हम उपासना के अर्थ पर जरा विचार करें तो हम देखेंगे कि जोतने और उपासना करने में एक प्रकार का सादृश्य विद्यमान् है जिसका ज्ञात करना कठिन कार्य नहीं है।

कल्चर Culture शब्द ऐग्रिकल्चर (कृषि) Agriculture या Horticulture उद्यान-विद्या (बाग लगाना) शब्द का एक अंश है और यह किसी दशा में भी अप्रासङ्गिक नहीं कहा जा सकता। इस शब्द में कल्चर (Culture) शब्द का वास्तविक अर्थ विद्यमान् है। 'जुताई' एक प्रकार की प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा बीज की तात्त्विक शक्तियाँ मूर्त रूप धारण करती हैं। बीज में वृक्ष होता है भले ही वह अव्यक्त रूप में हो। ऐग्रिकल्चर या कृषि भी एक प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा हम बीज की तात्त्विक शक्तियों को विकसित करते हैं। सर्वोत्तम कृषक वह होता है जो बीज की तात्त्विक शक्तियों में से किसी को भी अविकसित दशा में नहीं रहने देता। इसी प्रकार संस्कृति वा कल्चर वह प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा आत्मिक शक्तियों का सर्वाङ्गीण विकास किया जाता है। संसार एक बगीचे के सदृश है। जीवात्मा वा चेतनजीव छोटे-छोटे बीज होते हैं जो उत्पादक शक्तियों से परिपूर्ण होते हैं। बीज के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है कि भूमि उत्तम हो और माली सुयोग्य

हो। इसी भाँति चेतन प्राणियों की शक्तियों के विकास के लिए कई प्रकार के वातावरण और अवस्थाओं का होना आवश्यक होता है।

प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत भाषा में 'कल्चर' शब्द का एक अत्युत्तम पर्य्याय विद्यमान है और वह है 'कृषि' शब्द जिसका अर्थ भी जोतना है। एक दूसरा शब्द 'कृष्टि' है जो कृषि शब्द से लिया गया है। वेदों में स्थान-स्थान पर इसका प्रयोग किया गया है। वेदों में 'कृष्टि'[1] शब्द का अर्थ है पूर्ण संस्कृत मनुष्य।

कभी-कभी इसका अर्थ साधारण मनुष्य भी किया जाता है, परन्तु दोनों अर्थों का भाव एक ही है। अंग्रेजी का man (मैन) शब्द संस्कृत के 'मनु' या मनुष्य शब्द का अपभ्रंश है जिसका अर्थ मननशील, प्राणी होता है। इसी भाँति कृष्टि का वास्तविक अर्थ जिसका साधारण अर्थ मनुष्य किया जाता है वह मनुष्य है जिसकी तात्त्विक शक्तियों का पूर्ण रूप से विकास हो गया हो।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि 'कल्चर' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? कल्चर में आदि से लेकर अन्त तक उन सब छोटी-बड़ी वस्तुओं का समावेश हो जाता है जो चेतन प्राणी की बीज शक्ति के विकास में योग देती हैं। कल्चर बहुत-सी वस्तुओं का समुदाय होती है जो अपने-अपने स्थान पर काम करती और जिनका एक मात्र कार्य पृथक् और सम्मिलित दोनों रूपों में बीज को पूर्ण विकसित वृक्ष के रूप में विकसित करना होता है। कृष्टि या मनुष्य ही वह वृक्ष होता है और वे सब छोटी-बड़ी वस्तुएँ जो मनुष्य के पूर्ण विकास में योग देती हैं सामूहिक रूप से 'कल्चर' कही जाती हैं।

जिस प्रकार मनुष्य के सम्बन्ध में ढीले-ढाले ढंग से चर्चा करने का हमारा स्वभाव हो गया है उसी प्रकार हमें संस्कृति वा संस्कृतियों के सम्बन्ध में चर्चा करने की आदत पड़ गई है। हम अर्द्ध विकसित बच्चे को भी मनुष्य कहते हैं। दुष्ट से लेकर आदर्श सज्जन और मूर्ख से लेकर बुद्धिमान् पर्यन्त सब मनुष्य कहे जाते हैं। ऐसा प्रयोग 'मनुष्य' शब्द के वास्तविक अर्थ की दृष्टि से नहीं अपितु उपचार

---

१. उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥

—ऋ० १।४।६

की दृष्टि से किया जाता है। मनुष्य का अर्थ है मननशील प्राणी। परन्तु विवेकहीन मूर्ख भी मनुष्य होता है इसलिए नहीं कि उस पर मनुष्य शब्द का वास्तविक अर्थ चरितार्थ होता है अपितु इसलिए कि इस शब्द के आन्तरिक अर्थ ने प्रथा के कारण बाह्यरूप धारण कर लिया है। यही बात संस्कृति शब्द पर चरितार्थ होती है! खेती अच्छी भी होती है और बुरी भी। अच्छी खेती का अभिप्राय यह है कि वे सब प्रक्रियाएँ काम में आ जाएँ जिनके द्वारा बीज का कोई अंश नष्ट न हो और उसकी समस्त शक्तियाँ विकास में आ जाएँ। बुरी खेती से भी फसल तैयार होती है, परन्तु बहुत बढ़िया नहीं अनाड़ी किसान भी भूमि को जोतता है, बीज बोता है, पानी देता और फसल काटता है, परन्तु जितनी पैदावार चतुर किसान की होती है उतनी उसकी नहीं होती। इससे पता लगता है कि अनाड़ी किसान के ढंग में कहीं कोई त्रुटि अवश्य थी। हो सकता है उसकी भूमि अच्छी न हो वा अच्छी तरह जुती न हो वा उसे खाद न दिया गया हो। यह भी सम्भव है कि खेत में पानी की कमी रही हो वा अत्यधिक पानी दिया गया हो, वा खेत ठीक ऋतु में न बोया गया हो। फसल कटते समय अनाज की बरबादी भी एक कारण हो सकता है। इन में से कोई एक वा सब पैदावार के कम होने का कारण हो सकते हैं। तभी हम कह देते हैं कि किसान अनाड़ी था। चतुर किसान अधिक सावधान होगा और उसके काम करने का ढंग भी भिन्न होगा।

यही बात संस्कृति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। संस्कृति संस्कृति में भी भेद होता है। जो संस्कृति बिना किसी बाधा और बर्बादी के मनुष्य के उच्चतम विकास में योग देती है वह सर्वोत्तम संस्कृति समझी जाती है। जो संस्कृति इस उद्देश्य को पूर्ण करने में असफल रहती है वह उस अंश तक निकृष्ट संस्कृति मानी जाती है।

जिस तरह संसार में प्रत्येक प्रकार के अच्छे, बुरे और असावधान किसान हैं उसी तरह नाना प्रकार की संस्कृतियाँ विद्यमान हैं जो गुणों और संस्कारों दोनों की दृष्टियों से भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों को उत्पन्न करती हैं। पिछले कुछ समय से वस्तुओं के विषय में संस्कृति की परिभाषा में विचार और विवाद करने की प्रवृत्ति

दृष्टिगोचर हो रही है। जब कोई देश दूसरे देश पर आक्रमण करता है तो वह यह नहीं कहता कि हमें अमुक-अमुक प्रदेश वा अमुक-अमुक बाजार और व्यवसाय चाहिये। अपितु वह यह कहता है कि हम संस्कृति की रक्षा के लिये लड़ रहे हैं। हमें मनुष्य-समाज के एक भाग को सभ्य बनाना है। यह बहाना कहाँ तक ठीक है यह बतलाना कठिन है, किन्तु एक बात स्पष्ट है कि आक्रांता को इस बहाने से अमित लाभ होता है। इससे उसकी स्वार्थपरता पर पर्दा पड़ जाता है और वह संसार की सहानुभूति अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल हो जाता है। इससे अन्दर की कालिमा सफेद दीखने लग जाती है। जहाँ तक युद्ध-रत दलों की घोषणाओं का सम्बन्ध है, इस तथा पिछली शताब्दी के समस्त युद्ध सांस्कृतिक युद्ध कहलाए गए थे। दोनों दल युद्धों के उद्देश्य के रूप में संस्कृति की दुहाई देते रहे हैं। उनका कहना था कि हम मनुष्य के सर्वोत्तम विकास के लिए ही नर-संहार में प्रवृत्त हुए हैं। दूसरे शब्दों में हम बीज की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के लिए ही उसे जला रहे हैं। ओह! कलुषित स्वार्थपरता को सफेद संस्कृति का जामा पहनाकर दुःख रक्तपात, विनाश और अराजकता से पृथ्वी के सौन्दर्य को नष्ट कर दिया जाता है। निश्चय ही संस्कृति की वास्तविक भावना को भूल जाने से ऐसा काण्ड होता है। आज हम क्या देखते हैं ? स्वार्थ-सिद्धि के लिए घड़े हुए वा काल्पनिक फार्मूले सभ्यताओं के आकर्षक नामों के नाम से बाजारों में बिकते हैं। कहावत है कि सभी चमकीली वस्तुएं सोना नहीं होतीं, परन्तु सोने की चमक उसका माना हुआ लक्षण होता है और केवल इसी वस्तु की बाजार में बिक्री होती है। आज भड़कीले नामोंवाले बहुत से संगठनों का उदय हुआ देख पड़ता है (यथा रिलीजन, जनहितवाद, समाज-शास्त्र आदि-आदि) जो जोर-शोर के साथ अपने माल का विज्ञापन करके उसको बेचते और कहते हैं कि हमारे सिद्धान्त सर्वोत्तम हैं।

इतने अधिक प्रकार की संस्कृतियों के प्रदर्शन से बेचारा खरीदार परेशान हो जाता है। उसे यह नहीं सूझ पड़ता कि किसे ग्रहण किया जाय और किसे छोड़ा जाय। खरे और खोटे सोने की पहचान किस प्रकार की जाय ? इस पर भी अन्धकार से आवृत्त क्षितिज पर प्रकाश की एक रजत रेखा देख पड़ती है। संस्कृति की दुहाई दिये जाने

पर यह जानना चाहिए कि संस्कृति क्या वस्तु है ? थोड़े से व्यक्तियों को थोड़े समय के लिए धोखा दिया जा सकता है। परन्तु अन्त में सत्य की ही विजय होती है। अपने कटु अनुभवों के आधार पर हममें सत्य को जानने और सत्य की खोज करने की भावना जागृत होनी चाहिए।

यह बात सत्य सिद्ध हो चुकी है। पाश्चात्त्य देश शताब्दियों से अपनी चमकीली संस्कृतियों को संसार के सामने रखे हुए हैं। पिछली संस्कृतियों को पीछे धकेलने में भी ये देश सफल हुए हैं। पचास वर्ष हुए यह सोचा गया था कि विज्ञान की बढ़ती हुई उन्नति से नए-नए स्वर्गों की सृष्टि होगी और मनुष्य को अपने रोगों के शमन के लिए अमोघ औषधि मिल जाएगी। परन्तु संघर्ष और अशान्ति की पिछली कुछ शताब्दियों ने असंदिग्ध रूप में सिद्ध कर दिया है कि हम गलती पर थे। हमने अपने सच्चे मोतियों को फेंककर उनके बदले में झूठे मोती ले लिए। हम न केवल अपनी भूरी भेड़ों को सफेद ही न बना सके अपितु हमारी सफेद भेड़ें ही काली बन गईं। मनुष्य ने देव बनने का यत्न किया परन्तु बन गया दानव। कम-से-कम हमें यह तो निश्चय हो गया है कि हम परियों के लोक में विचरण कर रहे हैं जहाँ तत्त्व की कोई बात नहीं होती।

वस्तुएँ वह नहीं हुआ करतीं जो वे दिखाई दिया करती हैं। जो वस्तु इतने समय तक संस्कृति कही जाती रही है यदि उससे हमारे खेत और हमारी खेती नष्ट हुई हो तो हमें यह देखने का यत्न करना चाहिये कि भूल कहाँ हुई ? वास्तविक संस्कृति क्या है, अपनी यात्रा आरम्भ करने से पूर्व हमें इस प्रश्न का उत्तर दे देना चाहिये। सारे दूध के बिखर जाने पर रोने से क्या लाभ ? यदि जीवन के अन्त पर हमें गलत मार्ग का अनुभव हो तो इससे भी क्या लाभ ? हमारे पूर्वजों की असफलताएँ हमारी मार्गदर्शिका होनी चाहिएँ।

(२)

सभ्यता और संस्कृति

प्राय: पूछा जाता है कि क्या संस्कृति और सभ्यता पर्यायवाची शब्द हैं। यदि नहीं तो दोनों में क्या सम्बन्ध हैं ? इन दोनों शब्दों का एक दूसरे के लिए बहुत प्रयोग होता है। प्राय: संस्कृत राष्ट्र सभ्य राष्ट्र और सभ्य राष्ट्र संस्कृत राष्ट्र समझा जाता है, परन्तु गहराई में जाने पर विदित होता है कि ये दोनों वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न हैं यद्यपि दोनों आपस में सम्बद्ध हैं।

'सभ्यता' शब्द एक नियत अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। आजकल के कुछ लेखकों ने कुछ देशों का नाम सभ्य और कुछ का अर्द्ध सभ्य वा असभ्य रखा है। उन्नीसवीं वा बीसवीं शताब्दी के शब्दकोश में सफेद चमड़ीवाले देश सभ्य, पीली चमड़ीवाले अर्द्ध सभ्य और काली चमड़ीवाले असभ्य बतलाए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी चमड़ी स्वच्छ शीशे के पात्रों के सदृश है जिनमें से उन पात्रों में रखे हुए पदार्थों का रंग दिखाई दिया करता है। वह चमड़ी क्योंकर सफेद हो सकती है जिसके भीतर का हृदय सफेद न हो ? इसी भाँति काली चमड़ी में काले हृदय के अतिरिक्त अन्य पदार्थ क्योंकर समा सकता है ? युरोपियन कही जानेवाली या यूरोप से बाहर जानेवाली प्रत्येक वस्तु सभ्य कही जाती है। अमेरिका के निवासी सभ्य कहे जाते हैं क्योंकि उनके पूर्वज यूरोप से जाकर अमेरिका में बसे थे। परन्तु उसी अमेरिका के मूल निवासी असभ्य माने जाते हैं क्योंकि उनका निकास यूरोप से न हुआ था। आस्ट्रेलिया दक्षिण व पूर्वी अफ्रीका की श्वेत आबादी सभ्य कही जाती है। इसी कारण से यूरोपियन देशों से भिन्न संसार के समस्त लोग असभ्य हैं। ऐसी अवस्था में प्रश्न उपस्थित होता है कि सभ्यता की कसौटी क्या है ? श्वेत रंग, अश्वेल रंग वा अन्य कुछ। इसके अतिरिक्त एक कसौटी और भी है जिसके अनुसार ईसाई लोग सभ्य और गैर ईसाई असभ्य होते हैं। इस प्रकार सफेद चमड़ीवाला यूरोप का ईसाई

तिगुना भाग्यशाली और तिगुना सभ्य होता है। वह अपने देश, अपने रंग और अपने धर्म के कारण सभ्य होता है। उसको सभ्य बनानेवाले गुणों और अन्यों को सभ्यता के क्षेत्र से बहिष्कृत करनेवाले अवगुणों की कौन परवाह करता है। सभ्यता विषय के एक सुप्रसिद्ध लेखक श्रीयुत क्लाइव बैल (Clive Bell) के लेख के एक अवतरण में न्याय, मानव धर्म का पालन और मनुष्य जीवन का आदर इत्यादि गुणों को सभ्यता के लक्षण स्वीकार नहीं किया गया है। कदाचित् इसलिए कि ये ही गुण कम सभ्य वा असभ्य व्यक्तियों में बहुमात्रा में पाए जाते हैं। हम इस विचारधारा को अपने को सभ्य माननेवाले एक व्यक्ति की विचारधारा ही कह सकते हैं। परन्तु अन्य लोगों की विचारधारा भी ऐसी ही है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपने को असभ्य अनुभव करेगा चाहे वह कितना ही अज्ञानी, कितना ही दीन और कितना ही पतित क्यों न हों? हाँ वह भौतिक दबाव से बाध्य हो जाने पर अपने को असभ्य मान सकता है। चीन के निवासी समझते हैं कि वे परमात्मा के लाडले पुत्र हैं। उनकी दृष्टि में उनसे अधिक बुद्धिमान्, पवित्र और सभ्य दूसरा नहीं है।

अरब के मुसलमान की यह धारणा है कि प्रकाश का उदय सब से पहले मुहम्मद साहब पर हुआ था। उनके प्रादुर्भाव से पूर्व अरब और समस्त विश्व में अन्धकार छाया हुआ था। उसकी दृष्टि में आज भी केवल वे ही व्यक्ति सभ्य है जिनके हृदय मुहम्मद के प्रकाश से आलोकित हैं। काशी के ब्राह्मण से पूछिये। वह अपने से भिन्न अन्य सब व्यक्तियों को असभ्य समझता है और यदि उसके वश की बात हो तो वह उनके स्पर्श को भी सहन न करेगा।

परन्तु यदि 'सभ्यता' निरर्थक शब्द नहीं है तो इस पर बुद्धिसंगत विचार करने की आवश्यकता है। पिछले अध्याय में हमने 'संस्कृति' के अर्थ का विश्लेषण किया था तब क्या सभ्यता का भी उसी प्रकार का विश्लेषण सम्भव नहीं है?

सिविलाइज़ Civilize सिविल Civil धातु की क्रिया है। सिविल का अर्थ है सभ्य या समाज से सम्बन्ध रखनेवाला। इस प्रकार सभ्यता वह वस्तु है जो मनुष्य को सभ्य बनाती है। इस में सन्देह नहीं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और वह समाज से प्रेम करता है। समाज से घृणा करनेवाले मनुष्य केवल अपवाद स्वरूप ही हो

सकते हैं। परन्तु समाज का आकार निश्चित नहीं होता और यह अधिकांश में मनुष्य के आन्तरिक गुणों पर निर्भर करता है। समाज के सदस्यों को अन्य सदस्यों के हित के लिए अपने कुछ हितों का परित्याग करने के लिये बाधित होना पड़ता है। समाज-रचना का यही मूलाधार है। अपने हितों को दूसरों के हितों पर बलि करने की मुझ में कितनी क्षमता है। मेरे समाज का आकार इसी बात पर निर्भर करता है। मेरा हृदय वह मन्दिर है जिस में मेरे समाज के सदस्य आश्रय पाते हैं। मेरा हृदय कितना विशाल है और अपने मन-मन्दिर में मैं किनको और कहाँ तक स्थान देता हूँ अनायास ही यह प्रश्न मेरे सामने उपस्थित हो जाता है। अपने को सामाजिक या सभ्य बनाने का अभिप्राय यही है कि मैं अपने हृदय को विशाल बनाऊँ और उसमें अधिक-से-अधिक चेतन प्राणियों को स्थान दूँ। चूने और ईंटों से बने विशाल मन्दिरों से वास्तविक समाज की रचना नहीं होती। इसके लिये हृदय की विशालता चाहिये। यही सभ्यता का गूढार्थ है और सच पूछो तो प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय की विशालता के अनुपात से सभ्य होता है। सभ्यता का एक बाह्य अर्थ भी है। डॉ० धीरेन्द्रनाथ राय अपनी पुस्तक 'भारतीय सभ्यता की भावना' The Spirit of Indian Civilization में एक युक्ति-युक्त प्रश्न करते हैं। क्या कोई सभ्यता ऐसी है जो कृषि, उद्योग, भाषा, साहित्य, कला-कौशल, विज्ञान, नीति शास्त्र, धर्म और दर्शन का कोई-न-कोई रूप लिये हुए न हो? निस्सन्देह ऐसी कोई सभ्यता नहीं है। क्यों? क्या उपर्युक्त नौ वस्तुएँ पक्षपात से नियत की गई हैं? नहीं! उनका आधार है और दृढ़ आधार है। अपने हितों को दूसरों के हितों के अर्पण करने की मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा ही उन वस्तुओं का उद्‌गम स्थान है।

विज्ञान की वर्तमान उन्नति से मनुष्य-समाज का बहुत बड़ा हित हुआ है। इससे मनुष्य को अनुपम सुख और सुविधाएँ प्राप्त हुई है। इसने मनुष्य के रहन-सहन को चमका दिया है। परन्तु इससे मनुष्य जाति का एक बहुत बड़ा अहित भी हुआ है।

इसने मनुष्य के हृदय को संकीर्ण बना दिया है। डार्विन और उसके उत्तराधिकारियों की विचारधारा ने मनुष्य पर यह अङ्कित किया है कि प्रकृति में स्वार्थपरता का साम्राज्य है। उनका मूल मन्त्र

है कि सृष्टि में योग्यतम को जीवित रहने का अधिकार है और दुर्भाग्य से 'योग्यतम' का अर्थ शरीर में सब से बली का किया गया है। बलवान् मछली दुर्बल मछली को खा जाती है। जलचरों का यही नियम है। भेड़िया अपने से कमजोर पशुओं को मारकर खा जाता है। पशुओं में सब से बलवान् सिंह होता है अत: वह सब को खा जाता है। यह वनचरों का नियम है। अन्तत: मनुष्य भी तो प्रकृति का ही एक अंग है तब फिर वह इस व्यापक नियम का अपवाद क्योंकर हो सकता है ? यही कारण है बैल महोदय मानव धर्म के पालन को सभ्य व्यक्ति की विशेषता नहीं मानते। जहाँ सभ्यता नहीं होती वहाँ यह विशेषता पाई जाती है। पिछले कुछ समय से 'जीवन संघर्ष' यह वाक्य बहुत प्रचलित हो रहा है। इसने हमारे हृदय की दीवारों को बड़ा संकुचित बना दिया है। हम सोचते हैं कि प्रकृति हमें केवल एक पाठ पढ़ाती है और वह यह कि बिना दूसरे का संहार किये हमारा अस्तित्व कायम नहीं रह सकता। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि संहार सभ्यता का मुख्य लक्षण है। दुर्भाग्य से सभ्य जगत् ने इस भावना की सम्पुष्टि कर दी है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक समस्त एशिया पाश्चात्त्य जगत् की दृष्टि में असभ्य और अन्धकार से घिरा हुआ महाद्वीप था। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में एशिया का एक छोटा भूभाग प्रकाश में आया। वह जापान था। जापानियों ने दर्प के साथ कहा कि हम संहार करना न जानते थे इसीलिए हम असभ्य माने जाते थे। अब हमने रूसियों का संहार करके दुनिया को दिखा दिया है कि हममें संहार करने की क्षमता है इसीलिए हमें सभ्य जातियों में स्थान मिला है। उनका पीला रंग सफेद होकर उनका आदर होने लगा। मानव समाज को इस उदाहरण से क्या शिक्षा मिली ? यही कि यदि तुम सभ्य बनने के इच्छुक हो तो मानव धर्म का पालन करने की धवल भावना का परित्याग कर दो। दया भीरु व्यक्ति की कमज़ोरी होती है। बलवान् प्राणी दयालु नहीं होते। शेक्सपीयर ने बतलाया कि "दया दुहरा आशीर्वाद होता है।" अर्थात् दया करने से दया करनेवाले का और जिस पर दया की जाती है दोनों का कल्याण होता है। परन्तु आज का विज्ञानवेत्ता बतलाता है कि दया अभिशाप है।

क्या यह मनोवृत्ति मनुष्य को सभ्य बना सकती है? क्या प्रकृति हमें केवल दूसरों के प्रति निष्ठुर बनाना ही सिखाती है? क्या मनुष्य की सृष्टि मछलियों और भेड़ियों के मार्ग पर चलने के लिये ही हुई है? क्या उसके लिये इनसे उत्तम शिक्षक नहीं हो सकते? यदि हमारे मन में केवल मात्र जीवन के लिये संघर्ष की ही भावना काम करती रहे तो क्या हमारा अस्तित्व स्थिर रह सकता है? पाठकगण! ज़रा अपनी पैदायश (जन्म) पर विचार करो। जब तुम पैदा हुए थे तो तब तुम क्या थे? संघर्ष शक्ति से शून्य रक्त का एक छोटा-सा बिन्दु! उस समय स्वयं तुम्हारा अस्तित्व खतरे में था। उस समय तुम्हारी माता की एक मात्र साधना तुम्हारे जीवन की सुरक्षा थी। इसके लिये उसने न जाने कितने घोर कष्ट सहन किये थे। वह तुम्हारे लिये मरने तक को उद्यत थी। जीवन का यह सर्वप्रथम नमूना था जिसकी अनुभूति तुम में आरम्भ हुई थी। यह दुर्भाग्य की बात है कि अपने जन्म के समय तुम इसको देखने में असमर्थ थे। इससे भी अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि इस समय जब कि तुम में देखने की शक्ति है तुम इसकी ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेते हो। शतपथ ब्राह्मण में बतलाया गया है कि माता बच्चे की सर्वप्रथम गुरु होती है। अन्य अनेक अर्थों में भी यह उक्ति चरितार्थ होती है।

माता न केवल हमारा पोषण करती और हमें भाषा सिखाती है अपितु वह हमारे सामने वह उदाहरण भी प्रस्तुत करती है जो सभ्यता का आधार होता है। उस उदाहरण के अनुसार मनुष्य को अपने जीवन के अस्तित्व के लिए नहीं, अपितु दूसरों के अस्तित्व के लिये संघर्ष करना होता है। यदि सब से बलवान् को जीवित रहने के अधिकार का नियम बना हुआ होता तो न मालूम हमारी क्या गति हुई होती। यदि यह नियम बन जाय तो हम कैसे जीवित रह सकेंगे? निस्सन्देह माता बच्चे से अधिक बलवती होती है फिर भी बच्चा जीवित रहता है। क्यों? इसलिए कि माता अपनी शक्ति का कुछ अंश अपने निर्बल बच्चे की रक्षा के अर्पण कर देती है। सभ्यता के इसी बीज को प्रकृति ने हमारी माताओं के स्वभाव में बोया हुआ है।

'एकोऽहं बहुस्याम्' मैं एक हूँ, मैं अनेक हो जाऊँ। प्रत्येक माता-पिता की यही इच्छा होती है। यही इच्छा समाज की आधारशिला

होनी चाहिये। यह दु:ख की बात है कि आज का विज्ञानवेत्ता इस प्रबल और व्यापक नियम की उपेक्षा कर रहा है। यह नियम जल, स्थल और आकाश में काम कर रहा है। हम प्रकृति को संहार कारिणी कहते हैं क्योंकि हम केवल संहार कार्य में लगी हुई प्रकृति का ही अनुसरण करने लग जाते हैं। हम भी बहुत बड़े संहारकर्त्ता बनना चाहते हैं जिससे हम में और प्रकृति में एकरूपता आ जाय परन्तु हम भूल जाते हैं कि प्रकृति उत्पन्न भी करती है। संहार करना ही उसका मुख्य कार्य नहीं होता। सब से पहले वह उत्पन्न करती है और बाद में पोषण। इन दोनों के बाद संहार की क्रिया होती है। प्रकृति पहले जन्म देती और बाद में संहार करती है। हम उत्पन्न तो करते नहीं विध्वंस करने लग जाते हैं। इस प्रकार क्या हमारा आरम्भ अशुद्ध प्रकार से नहीं होता? यदि संसार से मातृ-प्रेम उठ जाय और हम प्रकृति में से दया भावना को मिटा दें तो सोचिये समाज और सभ्यता का रूप कैसा होगा? जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं सभ्यता का कार्य मनुष्य को सभ्य बनाना और यह सिखलाना है कि समाज में किस प्रकार रहना चाहिए और अपने साथियों के हित के लिये अपने हितों की किस प्रकार बलि देनी चाहिये?

प्रश्न उपस्थित होता है कि संस्कृति और सभ्यता में क्या सम्बन्ध है?

सभ्यता संस्कृति का उस सीमा तक एक अङ्ग होता है जिस तक वह हमारी बीज शक्ति को मूर्त रूप देने में सहायक होता है। संस्कृति एक बड़ा व्यापक शब्द है। सभ्यता की अपेक्षा इसका अधिक महत्त्व है। व्यक्ति सभ्य हो सकते हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे संस्कृत भी हों। वे सुव्यवस्थित समाज में रह सकते हैं फिर भी यह सम्भव है कि उनके स्वभाव पूर्णतया विकसित न हो सकें और उनके बहुमूल्य तत्त्व नष्ट हो जाएँ वा अविकसित रह जाएँ। वास्तविक संस्कृति के लिये सभ्यता की आवश्यकता होती है परन्तु समस्त सभ्यताएँ संस्कृति में योग नहीं देतीं। संस्कृति के कार्य में अधिक-से-अधिक सहायक होने के लिये सभ्यता में कुछ गुण आवश्यक होने चाहिएँ। यदि उसमें उन गुणों का अभाव हो तो संस्कृति के निर्माण कार्य के लिए वह वांछनीय नहीं हो सकती।

यह सत्य है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की

सदस्यता के अतिरिक्त उसका व्यक्तित्व भी है। व्यक्तियों से समाज बनता है। सत्य पर पहुँचने के लिये हमें इन दोनों तत्त्वों को सामने रखना होगा। नि सन्देह समाज एक प्रबल तत्त्व है परन्तु वह एक तत्त्व ही है। ऐसा ही प्रबल एक दूसरा तत्त्व है और वह व्यक्तित्व है। अपनी बीज शक्ति के विकास के लिये हम दूसरों से कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते। उसमें हमारा अपना योग ही महत्त्वपूर्ण होता है। इस भावना से शून्य हो जाने पर सभ्यता निर्जीव हो जाती है। सभ्यता का मूल्य आँकते समय मूल्य आँकनेवाले प्राय इस बात की उपेक्षा कर देते हैं और इस उपेक्षा का परिणाम बड़ा घातक सिद्ध होता है।

सदस्यता के अतिरिक्त उसका व्यक्तित्व भी है। व्यक्तियों से समाज बनता है। सत्य पर पहुँचने के लिये हमें इन दोनों तत्त्वों को सामने रखना होगा। निःसन्देह समाज एक प्रबल तत्त्व है परन्तु वह एक तत्त्व ही है। ऐसा ही प्रबल एक दूसरा तत्त्व है और वह व्यक्तित्व है। अपनी बीज शक्ति के विकास के लिये हम दूसरों से कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते। उसमें हमारा अपना योग ही महत्त्वपूर्ण होता है। इस भावना से शून्य हो जाने पर सभ्यता निर्जीव हो जाती है। सभ्यता का मूल्य आँकते समय मूल्य आँकनेवाले प्रायः इस बात की उपेक्षा कर देते हैं और इस उपेक्षा का परिणाम बड़ा घातक सिद्ध होता है।

(३)

वेद, संस्कृति और सभ्यता

इससे पूर्व हम बतला चुके हैं कि वेद के 'कृष्टि' शब्द से जो 'मनुष्य' शब्द का पर्य्याय है 'संस्कृति' शब्द का वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। वैदिक शब्दकोष के इस शब्द से वैदिक साहित्य के गौरव में अमित वृद्धि हो जाती है। वैदिक साहित्य में 'कल्चर' के लिये एक और शब्द प्रयुक्त होता है और वह 'संस्कृति' शब्द है जो 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'करना'। इसके साथ 'सम्' उपसर्ग लगा हुआ है जिसका अर्थ है 'अच्छी तरह, भले प्रकार'। संस्कृति का शाब्दिक अर्थ शुद्ध करना वा उन्नत करना है। जब बीज भूमि में बो दिया जाता है तो उसका बाह्य अंश नष्ट होने लगता है क्योंकि बढ़वार के लिए उसकी आवश्यकता नहीं होती। बाह्य अंश से शुद्ध और मुक्त हो जाने पर ही बीज में उगने की शक्ति आती है। बाह्य अंश उसके लिये बाधा होती है जिसके हटते ही वह उगने लगता है। इसी भाँति हमारा आत्मा भी एक बाह्य कलेवर से ढका होता है जिसकी अपने लिये तो उपयोगिता होती है, परन्तु वास्तव में वह एक बड़ी रुकावट होती है। संस्कृति का कार्य इस रुकावट को दूर करना होता है जिससे आभ्यन्तरिक गुणों को पूर्ण विकास का अवसर मिल जाय। 'कल्चर' का अर्थ आत्मा के बाह्य कलेवर में वृद्धि करना नहीं है। इसीलिए कृष्टि और संस्कृति दोनों का अर्थ 'कल्चर' है। कल्चर का मनुष्य के आन्तरिक तत्त्व से सीधा सम्बन्ध होता है। इस तत्त्व से शून्य संस्कृति आडम्बर और प्रदर्शन तो हो सकती है परन्तु सच्चे अर्थों में संस्कृति नहीं हो सकती। तनिक उस शरीर की जो रोगी हो परन्तु बहुमूल्य वस्त्रों से ढका हो और उस हृदय की जो बलवान् शरीर में अवस्थित हो परन्तु दुष्ट विचारों से भरा हो कल्पना करो। यह स्थिति वांछनीय नहीं हो सकती। इसी भाँति कल्चर का अर्थ है मनुष्य के अन्तरंग का विकास और उसके विजातीय द्रव्य का

विनाश। वास्तविक विकास के लिये सदैव विजातीय द्रव्य के विनाश की आवश्यकता होती है क्योंकि उससे वृद्धि रुक जाती है। जिस प्रकार बाहर से धूल के उड़कर आने और हमारे शरीर पर जम जाने से शरीर के छोटे-छोटे छिद्र बन्द हो जाते और हमारी आन्तरिक वृद्धि को रोक देते हैं उसी भाँति विजातीय द्रव्य से वास्तविक संस्कृति का विकास कुण्ठित हो जाता है। इस प्रसंग में वेदों में एक और महत्त्वपूर्ण शब्द आता है जिस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और वह है 'सभ्यता' जो सुविधा के लिये 'सिविलिज़ेशन' Civilization का पर्य्याय मान लिया गया है जिसका अर्थ है सभ्य बनाने की प्रक्रिया। 'सभ्यता' सभा शब्द से बनी हुई भाववाचक संज्ञा है जिसकी व्युत्पत्ति बड़ी आश्चर्यजनक और विशद है। 'सभा' शब्द 'स' उपसर्ग सहित 'भा' से बना है। 'भा' का अर्थ है 'कान्ति' और 'स' का अर्थ है सहित। इस प्रकार 'सभा' का अर्थ है वे व्यक्ति जो अन्यों को चमकाने की चेष्टा करते हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति से प्रसारित होनेवाला प्रकाश प्रकाश-पुञ्ज बन सके। तनिक सूर्य और उसकी छोटी-छोटी किरणों पर विचार करो। प्रत्येक किरण में अपनी चमक है इस पर भी वह सूर्य को नहीं बना सकती। जब सब किरणें आपस में मिलतीं और प्रत्येक किरण केन्द्रीय भण्डार में प्रकाश का अपना योग देती है तभी उस वस्तु का निर्माण होता है जिसे सूर्य कहते हैं। सभा या समाज को ऐसे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता हुआ करती है जो आपस में मिलकर प्रकाश के भण्डार की सृजना कर सकें। यह प्रकाश समष्टि रूप से सबका और व्यष्टि रूप से प्रत्येक का होता है। संस्कृत के निम्नांकित श्लोक में इस भाव का बड़ा उत्तम चित्रण किया गया है—

न सा सभा यत्र न भाति कश्चित् न सा सभा यत्र विभाति चैकः।
सभा तु सैवास्ति यथार्थरूपा परस्पर यत्र विभान्ति सर्वे॥

जिस सभा में कोई व्यक्ति न चमके और जिस में केवल एक व्यक्ति चमके वह सभा सभा नहीं होती। सभा वह होती है जिसमें सब मिलकर चमकें और प्रत्येक व्यक्ति अन्य को चमकाने में योगदान करे।

सभ्यता, शब्द का आन्तरिक भाव भी यही है। जिस सभ्यता में इस भाव की उपेक्षा हो वह सभ्यता नहीं कहलाती। इस भाव

का ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त[१] (मण्डल १० सूक्त १९१) में बड़ा उदात्त वर्णन किया गया है।

(१) हे भगवन्! समस्त सुखों के वर्षाने हारे! हे ज्ञान के प्रकाश प्रभो! तू सबका प्रेरक होकर समस्त प्राणियों और समस्त तत्त्वों को मिलाता है। तू भूमि पर अग्नि के तुल्य इस अन्न के बने देह में आत्मा के तुल्य वाणी के परम प्रासव्य ज्ञातव्य पद ओंकार रूप में प्रकाशित होता है। वह तू हमें नाना ऐश्वर्य और लोक प्राप्त करा।

(२) हे मनुष्यो! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करो। विरोध छोड़कर एक समान बचन कहो। आप लोगों के सब मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पूर्व के विद्वान् जन सेवनीय और मनन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुए अच्छी प्रकार उपासना करते रहे हैं उसी प्रकार आप लोग भी ज्ञान सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न और उपास्य प्रभु का सेवन और उपासना करो।

(३) आप सबका विचार एक समान हो। परस्पर संगति मेल-जोल भी एक समान भेद-भाव से रहित हो। आपका मन एक समान हो। आपका चित्त एक दूसरे के साथ मिला हो। मैं आप लोगों को एक समान विचारवान् करता हूँ और एक समान अन्नादि पदार्थ प्रदान कर आप लोगों को पालित-पोषित करता हूँ।

(४) आप लोगों का संकल्प और भाव अभिप्राय एक समान रहे। आप के हृदय एक समान रहें। आप लोगों के मन समान हों जिससे आप लोगों का परस्पर का कार्य सदैव सहयोगपूर्वक अच्छे प्रकार हो सके।

समस्त सभ्य व्यक्ति आपस में मिले हुए व्यक्तियों के रूप में

---

१. सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १॥
सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥ २॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ४॥

काम करते हैं परन्तु असभ्य व्यक्तियों का व्यवहार इससे भिन्न होता है। वेद में बतलाया गया है कि केवल व्यक्तियों के समूह से समाज नहीं बना करता। यह समूह उद्दण्ड व्यक्तियों की भीड़ भी हो सकती है। उद्देश्यपूर्ण समाज की भावना को व्यक्त करनेवाले संस्कृत में दो शब्द हैं। व्यक्तियों का समूह 'समज' या 'समाज' हो सकता है। एक साथ बैठी हुई भेड़ों, बकरियों वा भैंसों से 'समज' बनता है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि छोटे पशुओं में न तो उद्देश्य की एकता होती है और न भाषा की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे झुंड में रहनेवाले पशु होते हैं, परन्तु उनका आपस में मिलना स्वभाव वश होता है। प्रकृति येन केन प्रकारेण उन्हें आपस में मिला देती है। इसका उन्हें ज्ञान नहीं होता। परन्तु समाज के सदस्यों का उद्देश्य समान होना चाहिए। उनके ध्येय और ध्येय की पूर्ति के साधन भी समान होने चाहिएँ। सभ्यता का यही अभिप्राय है। सभ्यता की उपयोगिता उसी सीमा तक रहती है जिस तक वह संस्कृति के साधन का कार्य करती है। हमें यह देखना चाहिए कि सभ्यता समाज को बनानेवाले व्यक्तियों की बीज शक्ति को मूर्त्त रूप देने में सहायता करती है वा नहीं? यदि करती है तो किस सीमा तक? क्या एक अङ्ग का दूसरे अङ्ग के मूल्य पर विकास करनेवाली सभ्यता सभ्यता कही जा सकती है? इस सभ्यता के द्वारा समाज के कुछ भागों की तात्त्विक शक्तियों की उपेक्षा तो नहीं हो रही है? क्या विकास व्यवस्थित है? यदि नहीं है तो वह सभ्यता अपनी सांस्कृतिक उपादेयता नष्ट कर देती है चाहे वह कितनी ही चमकीली क्यों न हो? वेद मन्त्र के 'सुसहासति' शब्द में इसी विचार पर बल दिया गया है जिसका अर्थ है समाज के अङ्गों का पूर्ण एकीकरण।

(४)

समानता

एकता और अनेकता विश्व के दो मुख्य पहलू हैं और यह एक विचित्र प्रकार की एकता से ओत-प्रोत होने के कारण ही विश्व कहलाता है। इसी एकता से इस के विविध घटकों में एकरूपता आती है। ये घटक भी नाना प्रकार के और बहुसंख्यक होते हैं। यदि विश्व के अनेकता के पहलू पर बल दिया जाय तो यह भानमती का पिटारा बन जाएगा। परन्तु विश्व समूह मात्र नहीं होता अपितु इससे बहुत ऊँची वस्तु होता है। विश्व के घटक आपस में एक दूसरे से मिलकर काम करते हैं।

परन्तु एकता और अनेकता इन दोनों में 'समानता' की भावना कहीं पर नहीं पाई जाती। यदि विश्व में केवल मात्र एकता ही होती तब भी इसमें 'समानता' को स्थान मिलना असम्भव होता। यदि इसमें केवल अनेकता होती तब भी इसमें पूर्ण 'समानता' के दर्शन न होते। प्राय: कहा जाता है कि सब प्राणी परमात्मा की दृष्टि में समान होते हैं। प्रसन्नता की बात है कि वेदों में इस अनर्गल बात का कहीं पर भी उल्लेख नहीं मिलता। यदि परमात्मा की देखने के लिये आँखें हैं ऐसी कल्पना कर ली जाय तो वह निश्चय ही अपनी कृतियों को उनके वास्तविक स्वरूप में ही देखेगा। संसार में हमें समानता नहीं देख पड़ती और न स्वस्थ नेत्रोंवाले किसी व्यक्ति को भी ऐसी समानता दिखाई देती है। क्या हाथी चिउंटी से बड़ा नहीं होता? क्या चिउंटी हाथी से बहुत छोटी नहीं होती? इन दोनों का स्रष्टा एक मात्र परमेश्वर है। यदि उसने इन दोनों को भिन्न स्वरूपवाला बनाया है तो वह इन दोनों को एक ही स्वरूपवाला क्यों कर देखना पसन्द करेगा? दो व्यक्ति न तो एक-से होते हैं और न उनमें पूर्ण समानता ही होती है। फिर हम इन दोनों में भेद करनेवाले लक्षणों की कैसे उपेक्षा कर सकते हैं? ऐसी अवस्था में संसार में समानता कहाँ रही? अत: सिद्ध हुआ कि समानता का नारा

एक कपोल कल्पना है जो विवेक शून्य व्यक्तियों ने सम्भवतः संसार को धोखा देने के लिए बना लिया है।

संस्कृति (कल्चर) पर विचार करते समय इस प्रश्न पर विचार करना परमावश्यक है। जिन व्यक्तियों को सभ्य बनाने की आवश्यकता होती है उन सब की स्थिति एक जैसी नहीं होती। उनके प्रारम्भ स्थान भिन्न होते और निर्दिष्ट स्थान भी भिन्न होते हैं। यदि उनमें समानता होती तो संस्कृति का प्रश्न बड़ा सुगम बन गया होता। उस दशा में एक साधारण योजना के द्वारा वे सभ्य बनाये जा सकते थे। समान आकार, समान आयु, समान योग्यता, समान उद्देश्य और समान साधनवाले विद्यालयों के छात्रों पर विचार करो और सोचो कि इन छात्रों के अध्यापक का काम कितना सरल हो जाता। परन्तु इस प्रकार के सौभाग्यवान् विद्यालय और अध्यापक हैं कहाँ? सत्य यह है कि दो प्राणी एक जैसे नहीं हो सकते। इसीलिए बुद्धिमान् अध्यापक भिन्न-भिन्न रुचि और योग्यतावाले एक दर्जन वा दो दर्जन छात्रों के साथ व्यवहार में सर्वप्रथम उस तत्त्व का अन्वेषण करता है जो उन छात्रों में समान रूप से सब से अधिक स्थूल रूप लिये होता है और वह उस स्थान से प्रारम्भ करके उनकी विभिन्नताओं में उचित और न्यायपूर्ण संगति लाने का विशेष ध्यान रखता है। ये सब छात्र एक स्थान से आरम्भ नहीं करते। आरम्भ करते समय बीच में तथा अन्त में वे भिन्न ही रहते हैं। जो बात विद्यालय के छात्रों के विषय में सत्य है वही बात समूचे जगत् के विषय में भी सत्य है।

इस विभिन्नता के कारण संस्कृति (कल्चर) एक जटिल समस्या बन जाती है। परमात्मा रूप माली को इस संसाररूपी उद्यान में भिन्न-भिन्न प्रकार के गुणों और शक्तियोंवाले बीजों से पाला पड़ता है। उनकी आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। समान मात्रा में जोतने, खाद देने और पानी देने से काम नहीं चलता। एक के लिए जो अमृत होता है वही दूसरे के लिए विष होता है। तुम किसी उद्यान में चले जाओ और पौधों की प्रक्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करो। विविध प्रकार के बीजों से ही माली की कठिनाई बढ़ा करती है। जो बात छोटे से उद्यान पर चरितार्थ होती है वही विश्व के इस महान् उद्यान पर चरितार्थ होती है जिसका वह उद्यान एक

छोटा-सा अंग है। वेद में इस का कितना सुन्दर प्रतिपादन किया गया है।

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद् देवानामसुरत्वमेकम्॥

—ऋ० ३।५३।१९

अर्थात् सर्वोत्पादक परमेश्वर सारी प्रजाओं को अनेक प्रकार से उत्पन्न करता और उन्हें धारण करता है। ये सब प्राणी उसी के हैं। उस देवों के देव परमेश्वर की बड़ी भारी शक्ति है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महान् प्रभु के इस महान् विश्व में दो वस्तुएँ समान नहीं हो सकतीं। फारसी की कहावत (उक्ति) है कि परमात्मा ने पाँचों अंगुलियाँ बराबर नहीं बनाई हैं।

मनुष्य के हाथों की पाँचों अंगुलियाँ समान बनानेवाला परमात्मा निश्चय ही महामूर्ख होता।

फिर यह असमानता क्यों रखी गई? इस प्रश्न का उत्तर नितान्त स्पष्ट है। उनमें सङ्गति लाने के लिये। यदि पाँचों अंगुलियाँ बराबर की होतीं तो वे मिलकर काम न कर पातीं। समान आकार, समान स्वरूप और समान स्थितिवाले शिर और पैर से युक्त शरीर पर विचार करो। इस अवस्था में पैर सब से नीचा और सिर सब से ऊँचा शरीर का अवयव क्यों होना चाहिये? क्या इससे परमात्मा का अन्याय प्रकट नहीं होता? यह प्रश्न बुद्धिमानों के विचार के लिए छोड़ा जाता है। परन्तु केवल मात्र संगतिकरण के लिए ही विविध प्राणी विविध स्थितियों में नहीं रखे गये हैं। संगतिकरण साधन है, साध्य नहीं। साध्य संस्कृति वा विविध प्रकार के व्यक्तियों की तात्त्विक शक्तियों का विकास है। भिन्न-भिन्न आकार की अंगुलियाँ इसलिए बनाई गई हैं कि जिससे शरीर का संगतिपूर्ण कार्य सदैव हो सके और इस संगतिकरण का अभिप्राय है आत्मा की कतिपय शक्तियों का विकास। अंगुलियाँ स्वच्छन्द व्यक्तियों के रूप में नहीं अपितु आत्मा के साधन के रूप में काम करती हैं। विविध आत्माएँ विकास-यात्रा के विविध पड़ावों पर स्थित होती हैं। उन सबको एक जैसा नहीं माना जा सकता। वैदिक संस्कृति और अन्य संस्कृतियों में भेद करनेवाली सब से मुख्य बात यह है कि जहाँ वैदिक संस्कृति विश्व के छोटे-से-छोटे प्राणी का ध्यान रखती और उसके विकास

के लिए आवश्यक सामग्री जुटाती है वहाँ अन्य संस्कृतियाँ विश्व के असंख्य प्राणियों की ओर से आँखें बन्द कर लेती हैं। उनकी दृष्टि में सब मनुष्य नहीं अपितु काल्पनिक प्रकार के कतिपय मनुष्य होते हैं जिनकी उन्नति और समृद्धि पर उनका ध्यान रहता है। दूसरे व्यक्ति मरें या जिएँ, इसकी उनको चिन्ता नहीं होती। कहा जाता है कि "मनुष्य सृष्टि का विशिष्ट प्राणी और परमात्मा की सुन्दरतम कृति होता है।" इस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु क्या वही सृष्टि का एक मात्र प्राणी है ? और क्या समस्त सृष्टि की सृजना केवल उसी के लिए हुई है और वह किसी और के लिये नहीं बनाया गया है ?

यह बड़ा आवश्यक प्रश्न है। मनुष्य इतना अहंकारी है कि वह इस प्रश्न के विश्लेषण के विचार मात्र से घबरा जाता है। "मुझसे ऐसा प्रश्न करने का कौन साहस कर सकता है ? मैं सृष्टि का विशिष्ट प्राणी हूँ। वह कौन है जो मुझको इससे अन्यथा सोचने के लिए बाध्य कर सकता है ?" यह है मनुष्य की विचारधारा। यह तो शेरों जैसी विचारधारा है। शेरों को तर्क नहीं भाता। वे युक्तियाँ भी नहीं जानते। वे जानते हैं केवल अपने पञ्जों और जबड़ों में आई हुई वस्तु को। परन्तु इससे तो शेर सभ्य नहीं बन जाते। सभ्य मनुष्य की विचारधारा भिन्न प्रकार की होनी चाहिए। उसे सत्य पर पहुँचना चाहिए। विश्व को एक ओर रख दो और केवल मात्र इस पृथ्वी पर विचार करो। देखो, यह कितनी विस्तृत है और इसमें से कितनी मनुष्य के हिस्से में आई है। इसका तीन चौथाई भाग जन-शून्य है और शेष एक चौथाई भाग पर उसका पूर्ण आधिपत्य भी नहीं है। अब बताओ यह पृथ्वी और पृथ्वी से लाखों गुणा बड़ा विश्व अकेले उसके लिए क्योंकर हो सकता है ? इस विश्व में भिन्न-भिन्न आकार और भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंवाले असंख्य चेतन प्राणी पाये जाते हैं। उन सब का अपना अस्तित्व होता है। वे सब प्रकृति की सन्तान होते हैं जिनकी सृष्टि मनुष्य की तरह ही प्रकृति द्वारा ही होती है। यदि मनुष्य की विशिष्टता का अर्थ अपनी सीमाओं और अन्यों के अधिकारों को अनुभव करने की उसकी योग्यता हो तब तो उसकी विशिष्टता सच्ची हो सकती है। यदि कोई मनुष्य यह सोचे कि केवल मुझको ही जीने का अधिकार है अन्य किसी को नहीं और

केवल उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बना है तो यह
ता होगी और निश्चय ही निकट भविष्य में उसका भ्रम
गा। इस प्रकार की विचारधारा रखनेवाले व्यक्तियों,
र वर्गों का पूर्व इतिहास इस बात का ज्वलन्त प्रमाण
नका नामो-निशान भी नहीं। उनको मिटाने के लिए
क्का पर्याप्त था।

र संस्कृति को सर्वप्रथम इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए
सब मनुष्य समान होते हैं और न सब प्राणी। वे सब
विविध स्तरों पर स्थित होते हैं और आगे बढ़ने में समर्थ
ये उनका साथ विविध प्रकार के व्यवहारों की आवश्यकता
संस्कृत (सभ्य) राष्ट्र को भी ऐसा ही करना चाहिए।
पाठकगण हम से पूछ सकते हैं कि इस स्थापना के द्वारा
वषमताओं पर बल नहीं देते और वैषम्य को प्रोत्साहित
हो? हमारा उत्तर है नहीं। निश्चय ही नहीं। समानता
सिद्धान्त ही जन साधारण के मस्तिष्क को विकृत करके
नता के संघर्ष के लिए उकसाता है। समानता की साधना
भी सफल हुए हैं और न भविष्य में उनके सफल होने

यह जगत् केवल उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बना है तो यह उसकी मूर्खता होगी और निश्चय ही निकट भविष्य में उसका भ्रम दूर हो जाएगा। इस प्रकार की विचारधारा रखनेवाले व्यक्तियों, समुदायों और वर्गों का पूर्व इतिहास इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। आज उनका नामो-निशान भी नहीं। उनको मिटाने के लिए जरा-सा धक्का पर्याप्त था।

इसलिए संस्कृति को सर्वप्रथम इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि न तो सब मनुष्य समान होते हैं और न सब प्राणी। वे सब विकास के विविध स्तरों पर स्थित होते हैं और आगे बढ़ने में समर्थ बनाने के लिये उनका साथ विविध प्रकार के व्यवहारों की आवश्यकता होती है। संस्कृत (सभ्य) राष्ट्र को भी ऐसा ही करना चाहिए।

परन्तु पाठकगण हम से पूछ सकते हैं कि इस स्थापना के द्वारा क्या आप विषमताओं पर बल नहीं देते और वैषम्य को प्रोत्साहित नहीं करते हो? हमारा उत्तर है नहीं। निश्चय ही नहीं। समानता का अशुद्ध सिद्धान्त ही जन साधारण के मस्तिष्क को विकृत करके उनको समानता के संघर्ष के लिए उकसाता है। समानता की साधना में न वे कभी सफल हुए हैं और न भविष्य में उनके सफल होने की सम्भावना है। यदि परमात्मा ने सब मनुष्यों को समान बनाया होता तो उनकी समानता को भंग करने के लिए संसार में कोई वस्तु न होती।

परन्तु एक बात याद रहनी चाहिये। असमानता को दूर करने के लिए समय-समय पर हुए आन्दोलनों का महत्त्व घटाने का हमारा उद्देश्य नहीं है। समानता के अभाव का अर्थ यह नहीं है कि संसार में प्रत्येक प्रकार की असमानता व्याप्त है। अवश्य कुछ असमानताएँ वैध हैं और वे रहनी चाहियें। कुछ असमानताएँ कल्पित हैं और वे अवश्य दूर होनी चाहियें। वैध असमानताओं से एकता उत्पन्न होती है और अवैध असमानताओं से विषमताएँ। अवैध असमानताओं का विरोध करने की आवश्यकता है। अब हम फिर पाँचों अंगुलियों की उपमा पर आते हैं। वे सब आकार में असमान हैं। असमान होने के कारण ही वे आपस में मिल सकती हैं। यदि वे समान होतीं तो काम न चलता। परन्तु समानता की ओर ले जानेवाली असमानता भी एक निश्चित प्रकार की होती है। अन्य

प्रकार की असमानताएँ एकता के लिए घातक होती हैं। अंगूठा बहुत बड़ा हो सकता है और अन्य अंगुलियों में से कोई बहुत छोटी हो सकती है। इसी भाँति समाज के सदस्यों की पारस्परिक असमानता भी अशुद्ध प्रकार की हो सकती और समाज को छिन्न-भिन्न कर सकती है। प्रकृति ने जहाँ वस्तुओं को भिन्न-भिन्न प्रकार का बनाया है वहाँ उनकी विभिन्नताओं को ठीक करने का भी विशेष ध्यान रखा है। नारंगी को ले लीजिए। शक्कर, नमक, खटाई आदि उसके तत्त्वों का विश्लेषण कीजिए। ये सब एक दूसरे से भिन्न होते हैं परन्तु ये उचित अनुपात में मिले हुए होते हैं जिस से फल बड़ा मधुर और स्वादिष्ट हो जाता है। यदि इस में ज़रा-सी भी मधुरता और अम्लता अधिक होती तो फल का स्वाद बिगड़ जाता। इस फल के विविध तत्त्वों में विभिन्नता तो है परन्तु है उचित परिमाण और अनुपात में। यही बात चेतन प्राणियों के विषय में चरितार्थ होती है। वे सब भिन्न-भिन्न स्तरों पर होते हैं। परन्तु ये स्तर प्रकृति द्वारा नियत होते हैं। इसलिए उनका उचित ध्यान रखना चाहिए। यदि ध्यान न रखा जाएगा तो उनका विकास न हो सकेगा।

इस प्रसङ्ग में आओ हम बाह्य जगत् के उदाहरण प्रस्तुत करने के स्थान में समाज के ही उदाहरण प्रस्तुत करें।

हम लिङ्ग-भेद से प्रारम्भ करते हैं। कौन ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति होगा जो यह कहे कि लिङ्ग-भेद काल्पनिक और अवास्तविक होते हैं अथवा पुरुष और स्त्री दोनों एक होते हैं। स्त्री और पुरुष के न केवल शारीरिक अंगों में ही भेद होता है उनकी आन्तरिक क्षमताओं और स्वाभाविक रुचियों में भी बड़ी विभिन्नता होती है। स्त्री और पुरुष पति और पत्नी, भाई और बहिन, माता और पिता में बराबरी क्यों होनी चाहिए? समाज संशोधकों के लिए लैङ्गिक असमानता सदैव एक जटिल समस्या रही है। मानवीय इतिहास में कदाचित ही ऐसा युग रहा हो जबकि यह समस्या उग्र रूप में उपस्थित न हुई हो। हो सकता है कि यह उग्रता कभी कम रही हो वा अधिक। पुरुष के दासत्व से नारी की मुक्ति आज भी वैसी ही उग्र समस्या बनी हुई है जैसी कभी पूर्व थी। परन्तु सत्य यह है कि न केवल स्त्री पुरुष से भिन्न होती है अपितु स्त्री स्त्री से भी भिन्न होती है। रानी न केवल राजा से ही भिन्न होती है वह अपनी

दासी से भी भिन्न होती है। दासी शिकायत करती है कि स्त्री के रूप में उसमें और रानी में कोई भेद न होना चाहिए। रानी शिकायत करती है कि मानव प्राणी के रूप में उसमें और राजा में कोई भेद न होना चाहिए। परन्तु किसी भी समाज सुधार के कार्य से यह अन्तर मिट न सका। वास्तविक अन्तर तो रहेगा ही। संसार की कोई शक्ति इसको मिटा नहीं सकती। परन्तु रूढ़िगत अन्तर तो नष्ट होने ही चाहिएँ।

उदाहरणार्थ स्त्री पर्दे में क्यों रखी जाय जब कि पुरुष खुली हवा का आनन्द लेने में स्वतन्त्र हो। जहाँ तक श्वास सम्बन्धिनी इन्द्रियों का सम्बन्ध है पुरुष और स्त्री दोनों की समान स्थिति है दोनों को एक ही प्रकार की वायु की आवश्यकता होती है। इसी भाँति दासी जीवन की न्यूनतम सुविधाओं से क्यों वंचित रखी जाय? अन्ततः वह भी स्त्री है। अहंकार और अज्ञान ने अनेक रूढ़िगत भेदों की सृष्टि की हुई है। उनका अन्त होना ही चाहिए। जब हम समस्त मानव प्राणियों की समानता पर बल देते हैं तो हमारा अभिप्राय भी प्रायः यही होता है। सांस्कृतिक समस्या को असमानता के उचित अनुपात पर विशेष ध्यान देना चाहिए न कि पूर्ण समानता पर। समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-अधिकार और कर्त्तव्य हुआ करते हैं। समाज को सब से पहले कर्त्तव्यों पर विचार करना चाहिए इसके बाद कर्त्तव्यों के अनुसार अधिकारों का निरूपण होना चाहिए। राज्य-शासन में सब से पहले किसी नौकरी के कर्त्तव्य निश्चित किये जाते हैं बाद में वेतन। वेतन तो कार्य का मूल्य होता है मुख्य वस्तु काम होता है। वेतन का स्थान काम के बाद होता है।

झूठी असमानता का तो अन्त होना ही चाहिए क्योंकि इससे अन्याय, असन्तोष और अनैक्य की सृष्टि होती है। इस प्रकार समानता के अनुचित आग्रह का भी अन्त होना चाहिए। इससे भी उपर्युक्त तीनों प्रकार की विषमताओं की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त यह अस्वाभाविक भी है। इससे कोई लाभ भी नहीं होता उल्टी हानि होती है। वर्तमान युग इस सत्य की पुष्टि कर रहा है। सब आदमियों की इच्छा होती है कि हमें एक जैसे अधिकार, एक जैसा भोजन, एक जैसे वस्त्र एक जैसा मकान और एक जैसी जीवन सुविधाएँ प्राप्त हों। कोई भी एक जैसे कर्त्तव्यों की इच्छा नहीं करता।

सिद्धान्त यह है कि "इच्छानुसार खाओ और सामर्थ्यानुसार काम करो।" इच्छानुसार खाने की माँग व्यक्ति की और सामर्थ्यानुसार काम करने की माँग समाज की है। परन्तु दोनों माँगों में सादृश्य नहीं हो सकता। इन दोनों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। दृष्टिकोणों की इस विभिन्नता का परिणाम शान्ति भंग होता है। क्यों ? इसलिए कि समानता की अशुद्ध नींव पर समाज का भवन खड़ा किया जा रहा है। तुम कितना खाना चाहते हो, यह तो सहज ही जाना जा सकता है। परन्तु तुम कितना करना चाहते हो यह जानना कठिन है। तुम्हारे खाने की शक्ति दृष्ट और काम करने की अदृष्ट है और जब तक तुम इसके प्रति अपनी सत्यनिष्ठा का परिचय न दो तब तक यह जानी भी नहीं जा सकती। इसलिए अत्यन्त सुचारु रूप से काम करनेवाली संस्थाओं को कर्त्तव्य और अधिकार दोनों के स्वरूप निश्चित कर देने चाहिएँ। समाज का हित इस निरूपण की युक्ति-युक्तता पर अवलम्बित होता है। न्याय भी यही है न कि उत्तम पदार्थों का समान विभाजन। जो संस्कृति इस तथ्य पर उचित ध्यान नहीं देती उसका अन्त बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होता है चाहे वह कितनी ही चमकीली क्यों न हो। वैदिक संस्कृति इस तथ्य पर बड़ा ध्यान रखती है। इस संस्कृति का मुख्य आधार वर्णाश्रम व्यवस्था है। हम आगे चलकर इस विषय पर विचार करेंगे। इस समय हम इतना ही कहेंगे कि वर्ण और आश्रम ये दोनों संकुचित और एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं। ये दोनों एक दूसरे से ताने-बाने के सदृश मिले हुए हैं। इन दोनों की आधारभूत सचाई यह है कि विभिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न तात्त्विक शक्तियाँ होती हैं और उनके विकास के लिए भिन्न-भिन्न उपायों और रीतियों की आवश्यकता होती है। यह समस्त व्यवस्था प्रारम्भ में जटिल देख पड़ती है और प्राय: इसकी अशुद्ध व्याख्या होती रही है। परन्तु हम को यह न भूल जाना चाहिये कि जीवन स्वत: एक जटिल पहेली है। साधारण वस्तु से ध्येय की सिद्धि में कोई सहायता मिलनी सम्भव नहीं है। यदि इस विषय का सम्बन्ध केवल मानव समाज या उसके किसी विभाग से ही होता तो कदाचित् इसके साधारण स्वरूप से ही काम चल जाता। ऐसा भी कतिपय सांस्कृतिक प्रणालियाँ हैं जिनका प्रादुर्भाव इस भावना से होता है कि केवल मात्र

मानवीयहित सर्वोपरि हैं अर्थात् जिनके लक्ष्य में एक मात्र मनुष्यों के हित होते हैं। यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ताओं-अरस्तू और प्लेटो ने यूनान के निवासियों का तो ध्यान रखा परन्तु दासों की अवहेलना की। जहाँ तक छोटे पशुओं का सम्बन्ध है बहुत-सी सांस्कृतिक-प्रणालियों में वे जीवधारी प्राणी नहीं माने जाते। उनमें पशु शब्द उपमा के रूप में अवश्य प्रयुक्त होता है। उनका अस्तित्व केवल मनुष्यों की आवश्यकताओं के लिए अभिप्रेत होता है अपने लिये उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। परमात्मा ने उनकी सृजना उनके लिये नहीं की है। उनका जीवन ध्येय मनुष्य के हित की पूर्ति एक सीमित होता है। परन्तु वैदिक संस्कृति में समस्त चेतन प्राणियों को स्थान दिया गया है और उनके हितों को सुरक्षित रखा गया है भेद केवल इतना ही है कि मनुष्य तो अन्यों की भावनाओं को अनुभव करता है और पशु अनुभव नहीं करते। इससे मनुष्य का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। इसके लिये यह आवश्यक होता है कि वह न केवल अपने लिए ही अपितु दूसरों के लिये जिये। वह सृष्टि का विशिष्ट प्राणी इसी अर्थ में माना जाता है कि उसको बहुत से प्राणियों को खिलाना होता है। वह समस्त प्राणियों के समाज का पिता होता है। बड़े परिवार में माता-पिता अपने लिये और अपने बच्चों के लिये खाना बनाते हैं। बच्चे खाना तो खाते हैं परन्तु बनाते नहीं। क्यों? इसलिए कि उनकी चेतना शक्ति अधिक विकसित नहीं होती। इस प्रकार माता पिता के दो प्रकार के कर्त्तव्य होते हैं। एक कर्त्तव्य तो उनका अपना विकास करना होता है और दूसरा बच्चों के विकास का प्रबन्ध करना। माता पिता अपने बहुविध कर्त्तव्यों के प्रति सजग होते हैं इसलिए उनका स्थान ऊँचा होता है। बच्चे अपने तथा अन्यों के सम्बन्ध में सोचने में असमर्थ होते हैं इसलिए वे बच्चे कहलाते हैं। यही उपमा छोटे जीवों पर चरितार्थ होती है। मनुष्य संस्कृति का रक्षक होता है। उसकी स्थिति समस्त विश्व के माली के सदृश होती है जिसका काम न केवल स्वयं उन्नत होना वरन् दूसरों को भी उन्नत करना होता है। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था की हुई है कि यदि मनुष्य दूसरों की उन्नति की चिन्ता न करे तो उसकी उन्नति नहीं हो सकती। यजुर्वेद में मनुष्य कामना करता है कि मैं समस्त

प्राणियों को मित्र दृष्टि से देखूँ।[1] मनुष्य दूसरों के साथ कितना प्रेम करता है इसी से उसकी सभ्यता की परख होती है। इससे ऊँचा और क्या आदर्श हो सकता है ? यदि प्रयत्न करते हुए भी, तुम इस आदर्श तक न पहुँच सको तो समझो आदर्श अगम्य होते हैं अर्थात् रूप में सभ्य बनने के लिये तुम को इस आदर्श तक पहुँचना चाहिये अथवा परिस्थिति के अनुसार जितनी सफलता मिलनी सम्भव हो उतनी के लिए पूरा-पूरा यत्न करना चाहिये। यत्न करते हुए असफल होना एक बात है और आदर्श में निष्ठा न रखना और उसके विरुद्ध आचरण करना दूसरी बात है। आदर्श पर भले ही पहुँचा न जा सके फिर भी वह पहुँचने योग्य दिखाई दिया करता है और यह उसकी एक बड़ी विशेषता होती है। कम-से-कम यह हमारे लिए गन्तव्य मार्ग का निर्देश तो कर ही देता है। आदर्श का अनादर करनेवाले निश्चय ही अशुद्ध मार्ग का अनुसरण करते हुए घोर असभ्य बन जाते हैं। जो आदर्श का आदर करते और उस तक पहुँचने में कोई यत्न उठा नहीं रखते वे ठीक मार्ग पर होते हैं और जीवन की प्रगति के साथ-साथ आगे बढ़ते रहते हैं। यदि तुम आदर्श की चोटी पर न पहुँच सको तब भी हताश मत होओ। तुम्हारी दृष्टि आदर्श पर केन्द्रित रहनी चाहिये जिससे तुम्हारे पाँव ठीक मार्ग पर दृढ़ रहें। यदि तुमको आदर्श दूर भागता प्रतीत हो और इस तक पहुँच न सकने के कारण तुमको रोष आये तब भी उद्विग्न मत होना। याद रखो कि वह आदर्श जिस तक पहुँचा न जा सके दल-दल के जगमगाते प्रकाश के सदृश नहीं होता जो तुमको दल-दल में फँसा देवे। यह तो आकाश के चमकते हुए तारे के सदृश होता और तुम्हारे जीवन को अधिकाधिक चमकाने में सहायक होता है। यदि तुम मार्ग में ही घबरा कर और निराश होकर सड़क के एक ओर बैठ जाओ तो उसी मार्गदर्शक प्रकाश पर दृष्टि रखे हुए साहस करके उठ जाना और निश्चय रखना कि तुम्हारे परिश्रम का पूरा-पूरा उचित फल मिलेगा। ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो घृणा और क्रोध के आवेश में आकर पीछे की ओर मुड़ जाते और आदर्श के विरुद्ध आचरण करने लगते हैं। उन्हीं के द्वारा विविध संस्कृतियों की सृष्टि

१. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे॥ —यजु० ३६।१८

होती है जिनको संस्कृति के नाम से सम्बोधित करना संस्कृति शब्द का अपमान करना होता है। उन संस्कृतियों से उन्नति में योग मिलना तो दूर रहा उल्टी वे उन्नति के मार्ग को कुण्ठित कर देती हैं। वे संस्कृति के नितान्त विरुद्ध होती हैं। उनके द्वारा मनुष्य पशु और पशु भयानक जन्तु बन जाते हैं। जो बीज उनके द्वारा अंकुरित और पल्लवित होना चाहिये वह उन्हीं के द्वारा नष्ट हो जाता है। वैदिक संस्कृति इसी बात में अन्य संस्कृतियों से बढ़ी-चढ़ी है और यह विकास को कुण्ठित नहीं करती अपितु उसको प्रशस्त बनाती है।

(५)

आत्मा

जरा बगीचे पर दृष्टि डालो। यह छोटी-बड़ी बहुत-सी वस्तुओं से बना है। इसमें माली है, प्रबन्धक है, खेत है, भूमि है, खाद है, नालियाँ हैं, जल का फव्वारा और बहुत से औज़ार (उपकरण) हैं। बताओ इनमें से तुम किसको अत्यावश्यक समझते हो? कदाचित् तुम कहो कि यह प्रश्न बड़ा भ्रामक है। अपनी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु आवश्यक है। यदि संयोग से कुदाल बनानेवाली फर्म से तुम्हारा सम्बन्ध हो तो तुम कुदाल को अत्यावश्यक बताओगे क्योंकि उसके साथ तुम्हारा स्वार्थ जुड़ा हुआ है। जिस नहर से बगीचे को पानी दिया जाता है यदि तुम उसके निरीक्षक हुए तो तुम पानी को आवश्यक बताओगे। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु को महत्त्व देगा, परन्तु जहाँ तक बगीचे का सम्बन्ध है पानी और कुदाल ये केवल सहायक वस्तुएँ हैं। मुख्य वस्तु तो बीज है जिसकी उपज के लिये अन्य वस्तुओं की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार संस्कृति में बहुत-सी वस्तुएँ होती हैं और जो अपने स्थानों पर महत्त्वपूर्ण होती हैं परन्तु सब से महत्त्वपूर्ण एक वस्तु होती है। यह क्या है? इसकी खोज करना है और इसके बिना बड़ी उलझन पैदा होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जो वैदिक साहित्य का एक आवश्यक ग्रन्थ है इस समस्या का बड़ा सुन्दर समाधान उपस्थित किया गया है। यह एक ऋषि और उसकी पत्नी के संवाद के रूप में उस समय का है, जब ऋषि संसार-त्याग कर रहे थे और उनकी पत्नी को घर पर रहना था।

याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी प्रिय भार्या मैत्रेयी को अपने पास बुलाते और दूसरे दिन संसार-त्याग के अपने निश्चय से उसे अवगत करते और प्रतिज्ञा करते हैं कि वे अपनी समस्त सम्पत्ति उसके लिये छोड़ जायेंगे।

संवाद

मैत्रेयी—"प्रिय स्वामिन्! यदि समस्त संसार और उसकी सम्पदा मुझे मिल जाय तो क्या मुझे अमरत्व प्राप्त हो जाएगा?"

याज्ञवल्क्य—नहीं निश्चय ही नहीं। जैसा साधन सम्पन्न व्यक्तियों का जीवन व्यतीत हुआ करता है वैसा ही तेरा जीवन व्यतीत होगा। परन्तु धन से मोक्ष की आशा नहीं हो सकती।

मैत्रेयी—"हे नाथ! जिस धन से मैं अमर नहीं हो सकती उस धन का मैं क्या करूँगी? आप अमर होने के जो साधन जानते हो उन्हीं को मुझे बतलावें।"

याज्ञवल्क्य—तू वस्तुतः मेरी अत्यन्त प्रिया है जो ऐसे प्रिय वचन बोलती है। आ तेरे लिये तेरे इष्ट अमृतत्व की व्याख्या करता हूँ। तू मेरी व्याख्या पर ध्यान दे।

१. पति के लिए पत्नी को पति प्रिय नहीं होता आत्मा की प्रसन्नता के लिए पति प्रिय होता है।

२. पति के लिये पत्नी प्रिय नहीं होती किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिये पत्नी प्रिय होती है।

३. पुत्रों के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिये पुत्र प्रिय होते हैं।

४. धन के लिये धन प्यारा नहीं होता किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिये धन प्यारा होता है।

५.ज्ञान के लिये ज्ञान प्यारा नहीं होता किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिये ज्ञान प्यारा होता है।

६. शक्ति के लिये शक्ति प्रिय नहीं होती किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिये शक्ति प्रिय होती है।

७. लोकों के लिये लोक प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिये लोक प्रिय होते हैं।

सा हो वाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति॥ ३॥

सा हो वाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेवमे ब्रूहीति।

८. देवों के लिये विद्वान् प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिये विद्वान् प्रिय होते हैं।

९. प्राणियों के लिये प्राणी प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिये प्राणी प्रिय होते हैं।

१०. सब की प्रसन्नता के लिये सब प्रिय नहीं किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिये सब प्रिय होते हैं।

११. निस्सन्देह आत्मा देखने और सुनने योग्य है मनन करने योग्य और अन्त में अनुभव करने योग्य है।

आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने और विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

इस प्रकार ऋषि याज्ञवल्क्य सांसारिक पदार्थों की ओर से अपनी पत्नी का ध्यान हंटाकर उसे आत्मचिन्तन की प्रेरणा करते हैं।

निस्सन्देह 'आत्मा' वह धुरी है जिसके चारों ओर मेरा पति, मेरी पत्नी, मेरा पिता, मेरे मित्र, मेरी सम्पत्ति, मेरा धन, इत्यादि मनुष्य की दुनियाँ घूमा करती है। उन सबका अस्तित्व तभी तक होता है जब तक आत्मा का अस्तित्व रहता है। एक शब्द 'मेरा' और उसके बहुसंख्यक संसर्गों से वंचित हो जाने पर संसार शून्य हो जाता है। ज्यों ही 'मेरा' शब्द समाप्त होता है त्यों ही इस 'मेरा' के चारों ओर बना हुआ विशाल भवन गिरकर अदृश्य हो जाता है।

इसीलिए ऋषि इस बात पर विशेष बल देते और कहते हैं हे भार्य्ये! तुझे सबसे पहले 'स्व' वा आत्मा को जानना चाहिए। तब शेष बातों को तू स्वतः जान लेगी।

—बृहदारण्यक उपनिषद् ४, ५, ६

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।

न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। इत्यादि २

—बृहदा० पञ्चम ब्राह्मणम्

इस संवाद को यदि सरसरी दृष्टि से पढ़ा जाय तो इससे स्वार्थपरता की गन्ध आती है। परन्तु यह अकाट्य दार्शनिक तथ्य है। इसमें निहित तत्त्व की अनुभूति पर ही संस्कृति की वास्तविक भावना आश्रित है। स्वार्थपरता में बड़ा कूड़ा करकट भरा होता है। वह मनुष्य स्वार्थी होता है जो 'स्व' को भूलकर स्व से भिन्न स्वार्थों के समुद्र में निमग्न रहता है। आत्मा और अनात्मा को पहचानने और अनात्मा को आत्मा के वशवर्त्ती बनाने पर ही उपर्युक्त संवाद में वर्णित अनासक्ति का सिद्धान्त अवलम्बित है। स्वार्थ के वशीभूत हुआ आत्मा पराजित होकर अनात्मा के पाश में बँध जाता है। स्वार्थपरता का अभिप्राय 'स्व' का आधिपत्य नहीं अपितु उसका दासत्व होता है। स्वार्थी व्यक्ति अपने 'स्व' को 'स्व' से भिन्न का दास बना देता है। 'स्व' की अनुभूति प्राप्त कर लेनेवाला व्यक्ति सांसारिक बंधनों से ऊपर उठ जाता है। केवल ऐसा व्यक्ति ही मोक्ष को प्राप्त करता है। पूर्ण सभ्य व्यक्ति को नीचे गिरानेवाली बातों से बचना चाहिये अन्यथा उसका 'स्व' विकृत हो जाएगा। अपने वस्त्रों को साफ सुथरा रखनेवाले व्यक्ति को धूल से बचना चाहिये। इसी भाँति अपनी आत्मा को स्वच्छ रखने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को कुत्सित विचारों और भावनाओं से दूर रहना चाहिये। ऋषि याज्ञवल्क्य के शब्दों में समझने योग्य वस्तु केवल 'स्व' ही है।

सभ्यता क्या है और असभ्यता क्या है इसका परीक्षण भी इसी कसौटी पर किया जाता है। जिस प्रकार बगीचे में सब बातों का केन्द्र बीज होता है इसी प्रकार हमारी सब बातों का केन्द्र आत्मा होता है। जो कुछ बीज के लिए सहायक होता है वह अच्छा और जो बीज के लिए बाधक होता है वह बुरा होता है।

आत्मा के विषय में यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि तू सब की नाप और सबकी कसौटी है।[१] —यजु० १५।६५

यहाँ 'तू' का अर्थ आत्मा है। आत्मा की नाप से ही हम अपनी सफलताओं और असफलताओं को नापा करते हैं। एक मात्र आत्मा ही से हमारे जीवन के समस्त हितों का निरूपण हुआ करता है।

१. **सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ॥** —यजु० १५।६५

आत्मा ही बाह्य जगत् के साथ हमारे सम्बन्धों का निर्धारण किया करता है। जो व्यक्ति अपने जीवन के समस्त कार्यों में अपनी आत्मा से मन्त्रणा करता है वह कभी धोखा नहीं खाता। जो इस से भिन्न मार्ग का अनुसरण करता है उसके धोखा खाने में कोई सन्देह नहीं होता। इसलिए ऋषि याज्ञवल्क्य के इस कथन पर कि आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने और उसका विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेने से सब कुछ जान लिया जाता है हमको विशेष ध्यान देना चाहिये।

आत्मा ही हमारा सर्वोपरि प्रमाण क्यों होना चाहिये? वैदिक साहित्य के एक दूसरे ग्रन्थ 'कठोपनिषद्' में इस प्रश्न का बड़ा सुन्दर उत्तर दिया गया है।[१]

यह शरीर एक गाड़ी है। कोचवान् बुद्धि है। मन लगाम इन्द्रियाँ घोड़े हैं। संसार मार्ग है जिस पर इन्द्रियाँरूपी घोड़ों को चलाना होता है। रथ के स्वामी के लिये ही गाड़ी घोड़ों और प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता हुआ करती है। रथ का अच्छापन तभी तक है जब तक वह उसके स्वामी का हित करे। स्वामी और गाड़ी साधन होता है। गाड़ी इसलिये अच्छी नहीं कि वह दृढ़ और सुन्दर है अपितु इसलिये अच्छी है कि उससे गाड़ी के स्वामी का हित होता है। कोई वस्तु उसी सीमा तक अच्छी होती है जिस सीमा तक वह आत्मा के विकास में योग दे। हम भी मैत्रेयी के शब्दों में कह सकते हैं "जिस वस्तु से अमरता प्राप्त न हो उसको लेकर हम क्या करेंगे?" आत्मा की अमरता का अर्थ क्या है? यदि आत्मा अमर है तो फिर अमरता का प्रयास क्यों? क्या यह प्रयास निरर्थक न होगा? यदि आत्मा नश्वर है तब तुम उस वस्तु को अनश्वर क्यों कर बना सकते हो जो स्वभाव से नश्वर है। क्या मैत्रेयी पहेलियाँ घड़ रही थी? नहीं। मनुष्य उस समय तक नाशवान् रहता है जब तक उसका कार्य कलाप शरीर तक सीमित रहता है। साधारण मनुष्य के लक्ष्य में एक मात्र उसका शरीर रहता है। वह इस बात को भूल जाता है कि

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ —क० १।३।४

शरीर के अतिरिक्त कुछ और भी होता है। वह समझता है कि शरीर की आवश्यकताएँ उसकी अपनी आवश्यकताएँ हैं और उनकी सन्तुष्टि से उसकी अपनी सन्तुष्टि हो जाती है। वह अपने शरीर के लिए जीता है और यत: उसका शरीर नश्वर होता है अत: नश्वरता का भय उसे घेरे रहता है। यही भूल है जिससे आत्मा को मुक्त करना होता है। आत्मा को शरीर और अपने मध्य विभाजक रेखा खींचनी होती है जिसके साथ वह घुल मिल जाता है। 'मैं मर जाऊँगा' इस का अभिप्राय यह है कि मेरा शरीर नष्ट हो जाएगा। शरीर तो निश्चय ही मरणधर्मा है परन्तु मुख्य रूप से यह देखना है कि शरीर के नष्ट होने पर मैं कैसे मर जाऊँगा। संसार-परित्याग की इच्छा का उदय होते ही याज्ञवल्क्य को इस सत्य की अनुभूति हुई थी। आत्मा एवं नश्वर शरीर के हितों में किस प्रकार पहचान होती है मैत्रेयी को इस बात का ज्ञान अपने पति की सांसारिक सम्पदा का परित्याग करते समय हुआ था।

संस्कृतियों के स्वरूप के निर्णय में यह बात प्रमुख स्थान रखती है। जो संस्कृति इस बात पर ध्यान नहीं देती उसको लेकर हम क्या करेंगे? जहाजी कम्पनी यात्रियों की अपेक्षा जहाज का अधिक ध्यान रखती है। उसके लिए जहाज ही सब कुछ होता है। परन्तु यदि यात्री न हो तो जहाज किस काम का? जहाज यात्रियों के लिये होता है न कि यात्री जहाज के लिए। यात्रियों की उपेक्षा करना मूर्खता है। परन्तु सब से कम चिन्ता यात्रियों की ही की जाती है। आज कल के आर्थिक जगत् में जहाँ मनुष्य का ध्यान और समय व्यस्त रखने के लिये सहस्रों विभाग खुले हुए हैं मनुष्य की ही सब से अधिक अवहेलना होती है। लाखों मशीनें काम कर रही हैं और नाना प्रकार की सामग्री तैयार हो रही है जो प्रत्यक्षत: मनुष्य के उपयोग के लिए अभिप्रेत होती है परन्तु मनुष्य धीरे-धीरे पीछे धकेला जा रहा है यहाँ तक कि वह दिखाई भी नहीं देता। इस यान्त्रिक सभ्यता में यन्त्र ही सब कुछ होता है। मनुष्य कुछ नहीं होता। जितनी अधिक पैदावार होती है उतनी ही अधिक भूख बढ़ती जाती है? क्यों? इसलिए कि मनुष्य का ध्यान मनुष्य के उस भाग पर लगा दिया गया है जो मनुष्य नहीं होता। वास्तविक मनुष्य उसकी दृष्टि से बिलकुल छुप गया है। हम मनुष्य के बाह्य भाग

को मनुष्य मान लेते हैं। भीतर के मनुष्य में हमारी श्रद्धा नहीं होती। उसके अस्तित्व को हम स्वीकार नहीं करते। हमें मनुष्य के भौतिक पहलू की चिन्ता होती है उसके आध्यात्मिक पहलू को हमने भुला दिया है। यही कारण है हमारा समस्त प्रयास रोटी पर केन्द्रित रहता है। रोटी के अतिरिक्त हमें और कुछ नहीं भाता। समस्त आचार शास्त्र रोटी की धुरी के चहुँ ओर घूम रहा है। इधर तो हम रोटी की प्राप्ति के लिये आचार वा नीति शास्त्र की बलि चढ़ा रहे हैं और उधर स्वयं रोटी का लोप हो रहा और अगणित कष्टों की सृष्टि हो रही है। फिर वही वस्तु सामने आ जाती है अर्थात् आत्मा की अवहेलना।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि "आत्मा का हनन करनेवाले व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् अन्धकार से आच्छादित लोकों को प्राप्त होते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे आत्मा की अवहेलना करते हैं।"

इस दुःख और शोक से परिपूर्ण अवस्था में ऋषि याज्ञवल्क्य का यह उपदेश हमारे कानों में गूँजता प्रतीत होता है कि "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने और अन्त में अनुभव करने योग्य है। मैत्रेयी के इन शब्दों से कि "मैं उस वस्तु को लेकर क्या करूँगी जो मुझे अमरत्व की ओर न ले जाय" इस उपदेश की धवलता और भी उज्ज्वल हो जाती है।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ —यजु० ४०।३

(६)

परमात्मा और संस्कृति

आत्मा के विकास से सम्बन्ध रखनेवाली संस्कृति स्वभावतः ईश्वर सत्ता के साथ सम्बद्ध होती हैं।

साधारणतया जनसाधारण और मुख्यतया जड़वादी यह मानते हैं कि संस्कृति में न तो परमात्मा के लिए स्थान है और न होना चाहिये। कहा जाता है जब ला प्लास ने अपना दर्शन शास्त्र नैपोलियन को भेंट किया और उसने यह पूछा कि उसमें परमात्मा का उल्लेख क्यों नहीं है तो उस दार्शनिक ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि मुझे अपने तत्त्व शास्त्र की व्याख्या में परमात्मा की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि की व्याख्या में परमात्मा की सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि वस्तुतः परमात्मा ऐसा नगण्य तत्त्व है तो हमारी संस्कृति का आधार कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये जिसका आध्यात्मिकता के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो। पिछले अध्याय में हमने बतलाया था कि आत्मा शून्य प्राकृतिक जगत् में संस्कृति का कोई अर्थ नहीं होता। पत्थर बढ़ता है परन्तु बिना उद्देश्य के। उसको अपनी वृद्धि का ज्ञान नहीं होता। पत्थर की वृद्धि से जब तक किसी अन्य व्यक्ति या पदार्थ की इष्ट सिद्धि न होती हो तब तक उसकी अपनी वृद्धि का कोई अर्थ नहीं होता। ईंटों से बनी दीवार को हम जितनी चाहें उतनी लम्बी, चौड़ी और मोटी बना सकते हैं। दीवार को यह ज्ञान नहीं होता कि वह ठीक प्रकार से बन रही है वा नहीं। इसका ज्ञान तो घर के स्वामी को होता है। सुघड़ दीवार की लम्बाई कितनी होनी चाहिए वह किस आकार की होनी चाहिये और उसमें क्या-क्या विशेषताएँ होनी चाहिएँ इसका निश्चय चेतन प्राणी ही कर सकता है। इसी भाँति यदि कोई संस्कृति कतिपय अनिश्चित प्रक्रियाओं का समूहमात्र हो तो वह संस्कृति संस्कृति कहलाने के योग्य न होगी और उसके ग्राह्य वा अग्राह्य होने

का प्रश्न भी उपस्थित न होगा।

समस्त विकास एक निश्चित योजना के अनुसार हुआ करते हैं परन्तु हमारे आजकल के विकासवादी न तो स्पष्ट रूप से उस योजना की व्याख्या करते हैं और न यह बतलाते हैं कि उसके परीक्षण की कसौटी क्या है? आओ हम प्रतिदिन के व्यवहार में आनेवाली एक उपमा पर विचार करें। एक बड़ा भोजनालय है जिसमें भोजन तैयार हो रहा है। भोजन अच्छा बना है या निकृष्ट, स्वादिष्ट है वा अस्वादिष्ट, स्वास्थ्यकर है वा अस्वास्थ्यकर इत्यादि प्रश्नों का उत्तर तुम किस प्रकार दोगे? तुम्हारे परीक्षण की कसौटी क्या होगी? भोजन का सम्बन्ध भोक्ता के साथ हुआ करता है। भोजन की श्रेष्ठता वा निकृष्टता खानेवाले की सामर्थ्य, आवश्यकता और रुचि पर निर्भर हुआ करती है। इसी प्रकार संस्कृति की श्रेष्ठता का निरूपण आत्माओं की आवश्यकता, उनके विकास और उनके स्वरूप के द्वारा हुआ करता है जो अभौतिक होती हैं और जिन्हें भौतिक पदार्थों की आवश्यकता हुआ करती है और जब तुम प्रकृति की सीमाओं को पार करके आध्यात्म जगत् में प्रविष्ट होते हो तब बहुत-सी अभौतिक समस्याओं के जाल में फँस जाते हो। क्या उनसे तुम छुटकारा पा सकते हो? कदाचित् तुम कहो छुटकारा पा सकते हैं। तुम यह मानते हो कि जिस वस्तु को हम अभौतिक वा आध्यात्मिक कहते हैं वह भौतिक भी है। भौतिकवाद के कई तत्त्व वेत्ताओं ने प्रत्येक भौतिक प्रक्रिया को आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में दिखलाने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए ह्यूम (Hume) कहते हैं कि ''जब मैं अपने सम्बन्ध में विचार करने लगता हूँ तो मैं किसी भौतिक वस्तु-दुःख रोग, क्षुधा, तृष्णा आदि से टकराकर गिर पड़ता हूँ। आनन्द की बात यह है कि वह बार-बार टकरानेवाले 'स्व' से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकते। हर्ष, शोक क्षुधा और तृष्णा आदि कतिपय पदार्थों की न उपस्थिति होती है और न अनुपस्थिति। जब मेरी टोकरी में रोटी नहीं होती तो उसे भूख नहीं लगती। जब मेरे लोटे में जल नहीं होता तो उसे प्यास नहीं लगती। जब मैं अपनी कुर्सी का एक पैर तोड़ देता हूँ तो उसे कष्ट नहीं होता। जब दुःख अनुभव करनेवाली किसी सत्ता के साथ हड्डी का सम्बन्ध नहीं होता तब उसके हट जाने से उसे कष्ट भी नहीं

होता।'' यदि ह्यूम महोदय निरन्तर किसी न किसी पदार्थ से टकराकर गिरते रहते तो उन्होंने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में जो कई उत्तम ग्रन्थ लिखे हैं उनका लिखना सम्भव न होता। वे निरन्तर अपने विरोधियों को चुनौती देते रहते थे। यह बात उनके ध्यान में आई प्रतीत नहीं होती। चुनौती देनेवाली यह भावना भौतिक क्षेत्र से बहुत आगे बढ़कर हमें ऐसे क्षेत्र में उतार देती है जो सर्वथा अभौतिक होता है। क्या सत्य, असत्य, शुद्ध, अशुद्ध, श्रेष्ठ, अश्रेष्ठ में भेद करनेवाला सिद्धान्त अचेतन हो सकता है। इसीलिए हम कहते हैं कि संस्कृति के प्रश्न का निर्णय करते समय 'आत्मा' की उपेक्षा नहीं हो सकती।

हमने ऊपर बतलाया है कि आत्मा के क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर तुम से परमात्मा की उपेक्षा न हो सकेगी। आत्मिक तत्त्वों में आस्था रखने और परमात्मा की अवहेलना करनेवाला तत्त्व शास्त्र निश्चय ही हास्यास्पद होगा।

वैदिक संस्कृति विशुद्ध आध्यात्मिक संस्कृति है। ऋग्वेद का आरम्भ एक बड़े महत्त्वपूर्ण मन्त्र से होता है।

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

इस मन्त्र का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार होगा—

मैं (पुरोहितम्) सब से पूर्व विद्यमान और सब के हितकारक (यज्ञस्य देवम्) सब शुभ कर्मों के प्रकाशक (ऋत्विजम्) सब पदार्थों के दाता और प्राणियों को कर्म में प्रवृत्त करनेवाले (अग्निम्) अग्रणी—सब के नेता, आदिकारण ज्ञानमय परमेश्वर की (ईडे) स्तुति करता हूँ। साधारणतया अग्नि शब्द का अर्थ 'आग' किया जाता है। कई भारतीय विद्वानों ने 'अग्नि' के स्थान में 'अग्नि देवता' रखकर इसके अर्थों में सुधार किया है परन्तु अग्नि का अर्थ जैसा कि इसके धात्वर्थ से स्पष्ट है स्वयं प्रकाशमान और अनन्त ज्ञानवान् परमेश्वर है। 'संस्कृत' के अंचु धातु का अर्थ गति और उपासना है। परमात्मा के केवल उपासना योग्य होने का कोई अर्थ न होगा जब तक इसके साथ कोई विशेषण न लगा हो। परमेश्वर सृष्टि का आदि कारण है और यही उसका मुख्यतम गुण है और इसी गुण के कारण वह उपास्य देव बनता है। ऋग्वेद मानव जाति के पुस्तकालय की सब से पहली पुस्तक है और इसका सर्वप्रथम शब्द 'अग्नि' है। इसलिए

यदि इसका अर्थ परमेश्वर किया जाय तो अयुक्तियुक्त न होगा। परमेश्वर सृष्टि का आदि कारण है यह मान्यता सृष्टि के आदि से चली आ रही है। इससे ऊँची अन्य किसी भावना की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि परमेश्वर के अकेले आदिकारण गुण के अन्तर्गत उसके अन्य सब गुण आ जाते हैं। सृष्टि की रचना, उसका पालन और संहार, ये तीन गुण परमात्मा के सुप्रसिद्ध हैं और इनका वैदिक साहित्य में सम्यक् वर्णन किया गया है। परन्तु ये तीन गुण परमेश्वर के 'आदिकारण' इस एक गुण के तीन पहलू है। सृष्टि का आदिकारण होने से ही ईश्वर को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। वही समस्त प्राणियों का नियामक है और उसी से समस्त उत्तम पदार्थों की उत्पत्ति होनी चाहिये।

ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र[१] में उपर्युक्त मान्यता पर सविस्तार विचार किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि समस्त नियमों और उन घटनाओं का कारण ज्ञानरूप परमेश्वर है जिनके द्वारा वे नियम क्रिया में आया करते हैं। उसी परमेश्वर से रात्रि अर्थात् साम्य की उत्पत्ति होती है। उसी से प्रकृति में व्यापक हलचल उत्पन्न होकर वह साम्य भंग होता और जगत् में विविधता की सृष्टि होती है। यदि संसार में यह विविधता न होती तो संसार का कोई अर्थ न होता। उसी परमेश्वर के 'समय' की भावना का प्रादुर्भाव होता है। उसी से दिन, रात, सूर्य, चन्द्र और निमेष, उन्मेष आदि की सृजना होती है।

इस वेदमन्त्र का अनूठापन यह है कि इसमें सृष्टि की अनायास उत्पत्ति के विचार को प्रश्रय नहीं दिया गया है और इसी अनूठेपन से इस मन्त्र को संसार के अन्य आस्तिक साहित्य में मूर्धन्य स्थान

---

१. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥
—ऋ० १०।१९०।१-३

प्राप्त है। इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से यह बतलाया गया है कि परमात्मा का स्वरूप नित्य होने से सृष्टि क्रम भी नित्य है। यदि सृष्टि की उत्पत्ति कोई आकस्मिक घटना होती तो सृष्टा के ज्ञानवान् होने की भी कोई आवश्यकता न होती। कहा जाता है इतिहास की पुनरावृत्ति होती है (धाता यथा पूर्वमकल्पयत्) अर्थात् ईश्वर ने पूर्ववत् सृष्टि रची। सृष्टियुत्पत्ति परमात्मा का बिना विचारे अनायास होनेवाला कार्य नहीं है। निरन्तर सृष्टि की रचना करते रहना नित्य स्वरूप परमात्मा का नित्य कार्य है। वर्तमान सृष्टि परमात्मा का पहला और अन्तिम कार्य नहीं है। यह तो अनन्त शृङ्खला की एक कड़ी मात्र है। वैदिक साहित्य में अनादि सृष्टिक्रम का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। मेरी धारणा है कि आस्तिक जगत् में इस शब्द पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। हम परमात्मा की चर्चा करते हैं। उसकी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का बखान करते हैं। उसके भक्तों ने अतिरंजित शब्दों में उसकी स्तुति करके अपने हृदय के भावों को व्यक्त किया है। परमात्मा यह है, परमात्मा वह है वह यह कर सकता है वह वह कर सकता है इत्यादि-इत्यादि कहते हुए लोग नहीं थकते। परन्तु हम जितना अधिक उसका गान करते हैं उतना ही अधिक उसे संयोग जन्य वस्तु बना देते हैं चाहे वह कितना ही दयालु, कितना ही शक्तिशाली और कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो। यदि परमात्मा के कार्य आकस्मिक हों तो वह एक चपल सत्ता के रूप में परिणत हो जाएगा भले ही उसके कार्य भव्य और सुन्दर क्यों न हों। उसकी भव्यता से अपनी संस्कृति के विकास में हमें कोई सहायता भी न मिलेगी। परन्तु वेदों में सृष्टि के अनादि प्रवाह पर बल दिया गया है और उसके नियम नित्य बतलाये गये हैं। इन नियमों की नित्यता से ही विकास का क्रम निश्चित होता है और मानव समाज के अग्रणियों के सम्मुख सुनिश्चित पुरोगम उपस्थित होता है। भविष्य का हमें ज्ञान नहीं होता। इस पर हमारा कोई अधिकार भी नहीं होता। इसके सम्बन्ध में हमें जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है वह उन नित्य नियमों के द्वारा ही प्राप्त होता है। यदि वे नियम अनिश्चित और अस्थिर हुए तो हम बड़ी उलझन में पड़ जायेंगे। हम नहीं जानते कि सूर्य कल निकलेगा वा नहीं। हम यह भी नहीं जानते कि 'कल' होगा वा

नहीं। तुम केवल यह कह सकते हो कि सूर्य कल निकला था और आज भी निकल रहा है। युगों से ऐसा ही होता आ रहा है। यह ध्रुव सत्य है। परन्तु जब तक तुम परमात्मा के नियमों को नित्य न मानोगे तब तक निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि कल भी ऐसा ही होगा। कल के लिये प्रतीक्षा करो और देखो, वह नियम का पक्का है वा नहीं। परन्तु अनिश्चित रूप से प्रतीक्षा करते रहना तुम्हारे प्रोग्राम के लिये घातक होगा। वह संस्कृति किस अर्थ की जिससे परमात्मा के नियमों की स्थिरता प्रतिपादित न होती हो। जिस संसार का रचयिता और शासक दोनों ही मनमौजी हों वह निश्चय ही एक तमाशा होगा और यदि तुम इस आधार पर उन दोनों की सत्ता को न मानो तो फिर किसको मानोगे? तुम परमात्मा की सत्ता से इन्कार कर सकते हो तो उसे अपने मस्तिष्क से भी निकाल सकते हो यद्यपि उसको संसार से निकालना तुम्हारे अधिकार में नहीं है। परन्तु कृपा करके यह तो बताओ उसके रिक्तस्थान की पूर्ति किस वस्तु से करोगे? क्या अन्धी आकस्मिकता से? क्या इससे तुम्हारी संस्कृति को कोई योग मिलेगा? उस अवस्था में तुम अपने को ऐसे जगत् में पाओगे जिसमें न कोई व्यवस्था होगी न कोई नियमबद्धता होगी और न असंदिग्धता होगी। इस प्रकार की अनिश्चित अवस्था से किसी भी संस्कृति का आधार सुदृढ़ नहीं हो सकता।

साधारण व्यक्ति अपने क्षणिक स्वार्थ की सिद्धि के लिये राजसत्ता को धोखा देने का यत्न करता और समझता है कि ऐसा करने से उसके कार्य की सिद्धि हो जाती है परन्तु वह यह नहीं सोचता कि उसके इस कार्य से समस्त राजयन्त्र दूषित होकर उसी के लिये भावी कष्टों की सृष्टि हो रही है। इस प्रकार के अपराधियों को तुम अदूरदर्शी कहोगे क्योंकि वे अपने तात्कालिक लाभ के लिये चिरकाल पर्यन्त रहनेवाले अनिष्ट को आमन्त्रित करते हैं। यही बात उन लोगों के विषय में कही जा सकती है। जो यह सोचते हैं कि दैवीय कर्तृत्व की उपेक्षा करने से उनकी संस्कृति के एक विशेष पहलू को कोई हानि नहीं होती उल्टे उसमें आवश्यक सुधार हो जाता है।

कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि मनुष्यों की धार्मिक रुचि से सांस्कृतिक हितों को बड़ा धक्का लगता है। धर्म एक प्रकार का

भयंकर विस्फोट होता और परिणामत: नाना प्रकार के उत्पातों की उत्पत्ति हो जाती है। पिछड़ा हुआ जन-समाज भी नैतिक भावना का आदर करता है जिससे उसकी साम्यावस्था बनी रहती और व्यक्तिगत अपराधों की बाढ़ रुक जाती है। परन्तु जनसाधारण की इस भावना के नष्ट हो जाने पर भयंकर दुर्घटनाओं का तांता लग जाता है। मैं 'भयंकर' इसलिये कहता हूँ कि मेरे भीतर स्वभावतया आत्मिक चेतना काम करती है। यदि मेरे भीतर इस चेतना का सर्वथा लोप हो जाय और मैं अपने को और अन्यों को निर्जीव वस्तुओं का ढेर समझने लग जाऊँ तो मैं 'भयंकर' शब्द का प्रयोग भी नहीं कर सकता क्योंकि मिट्टी वा पत्थर के ढेर के लिये कुछ भी भयंकर नहीं होता।

सभ्य व्यक्तियों की यह भावना पूर्णतया विकसित होनी चाहिये। उनको इस बात का परिज्ञान होना चाहिये कि क्या उनके लिये और क्या अन्यों के लिये हितकर है। यही भावना समाजों, राज्यों और शासनों की आधारशिला होनी चाहिये इसी भावना के बल पर राज्यों और समाजों की प्रगति संभव होती है। प्रजा की इसी भावना को वे निरन्तर जाने वा अनजाने में अपील (प्रेरणा) करते रहते हैं। जानबूझकर की हुई प्रेरणा के परिणामों की गति तीव्र और अनजाने में की हुई प्रेरणा के परिणामों की गति मन्द होती है। यदि वे (सभ्य व्यक्ति) इस भावना के पक्के शत्रु हुए वा उसकी सत्ता को स्वीकार न करनेवाले हुए तो वे अपने को और समाज को घोर विपत्ति में डालने का कारण बन जाते हैं। 'जीवन के सम्मान' का सिद्धान्त समाज संगठन का मुख्यतम आधार होता है। जीवन का तिरस्कार करनेवाले तत्त्वों को खुली छुट्टी मिलने पर समाज में बड़ी अवांछनीय और असह्य स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसलिये जीवन के स्वरूप को पहचानना आवश्यक है। केवल भौतिक तत्त्वों के संयोग का नाम तो जीवन नहीं है और न व्यवस्थित प्राकृतिक तत्त्वों से ही जीवन बनता है। ऋग्वेद का मन्त्र[१] कहता है "हे प्रभो! मैं अपने आत्मा के स्वरूप को न जानता था। इसलिये मैंने पाप किया।"

१. क्रत्व: समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृडा सुक्षत्र मृडय॥

—ऋ० ७।८९।३

आत्मा के स्वरूप को न जानने से ही सब प्रकार के पापों की सृष्टि होती है। आत्मा का ज्ञान कर लेने पर मनुष्य कल्याण-मार्ग का पथिक बन जाता है। आत्मिक ज्ञान भगवद् भक्ति से प्राप्त होता है क्योंकि इससे हमारे हृदयों में विश्व साम्राज्य के नियमों के प्रति आदर का भाव उत्पन्न होता है। ईश्वर भक्ति से हम अपने को महान् विश्व का एक अंश मानने लगते हैं। हम यह भी अनुभव करने लगते हैं कि हमारा हित संसार के हित के साथ जुड़ा हुआ है। जिस मनुष्य में विश्व-प्रेम की यह भावना जागृत और विकसित होती है वह अत्यन्त सभ्य होता है और जिस समाज के सदस्यों में यह भावना विकसित होती है वह भी सभ्य समाज माना जाता है। इस नियम के अपवाद भी होते हैं जो उपेक्षणीय होने के साथ-साथ अवांछनीय भी होते हैं।

परन्तु अब भी एक बात का स्पष्टीकरण शेष रह जाता है। हमें यह देखना है कि वैदिक संस्कृति पर परमात्मा के वैदिक स्वरूप का क्या प्रभाव है और उस स्वरूप से भिन्न स्वरूपों की मान्यता के क्या परिणाम होते हैं ? यदि परमात्मा अखिल विश्व का शासक है और दूसरा कोई उसके समकक्ष नहीं है तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उसका कार्य निम्न कोटि की आत्माओं द्वारा निर्मित ईश्वरीय भावना से अनुप्राणित हो। मैं अपने आचरण को इस आधार पर क्यों बदलूँ कि भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति मुझे भिन्न-भिन्न प्रकार का समझते हैं। इस प्रश्न का उत्तर बड़ा सरल है। समाज का निर्माण करनेवाले व्यक्तियों के प्रयास पर समाज की संस्कृति आश्रित होती है और प्रत्येक संस्कृति में मनुष्य का मुख्य योग होता है। हम परमात्मारूपी कुम्भकार के हाथों में निष्क्रिय पात्रों के समान नहीं होते। हमें अपने सामने एक योजना रखकर उसे क्रिया में लाना होता है। किसी शासन व्यवस्था पर विचार करो। उसमें एक शासक मण्डल होता है। उसके पश्चात् शासित वर्ग होता है। शासन व्यवस्था के लक्ष्य में शासक मण्डल की नहीं अपितु शासित वर्ग की उन्नति हुआ करती है। शासित वर्ग चेतन वर्ग होता है। यह वर्ग अपनी शासन व्यवस्था को सफल बनाने के लिए कुछ न कुछ प्रयास करता और अपना योग देता है। अपनी शासन-व्यवस्था के विषय

में इस वर्ग की जैसी भावना या मान्यता होती है उसी के अनुरूप उसका योग होता है। प्रत्येक राज्य में राज-भक्त अर्द्धराज-भक्त अनिच्छुक राज-भक्त, कृत्रिम राज-भक्त एवं विरोधी तथा विद्रोही तत्त्व होते हैं। इन में से उत्तम तत्त्वों के प्राबल्य पर ही राजतन्त्र की सुचारुता अवलम्बित होती है और अपनी शासन-व्यवस्था के स्वरूप, शक्ति और योग्यता के सम्बन्ध में शासित वर्ग की जो भावना बन जाती है उसी पर राजनिष्ठा का परिणाम निर्भर करता है। यदि शासित वर्ग यह देखता है कि उसका राज्य-शासन अत्याचार पूर्ण वा अन्यायी है तो उसमें या तो अपने को हेय समझने की प्रवृत्ति घर कर जाएगी या वह विद्रोही बन जाएगा। यदि वह अपने राज्य-शासन को निर्बल वा नपुंसक देखेगा तो उसमें राज्य-शासन को उलटने का लोभ आ जाएगा। यदि वह यह देखेगा कि शासन व्यवस्था उदार, उपयुक्त और सहानुभूतिपूर्ण है तो वह उसके प्रति भक्ति और सहयोग का परिचय देगा। इसी भाँति यदि परमात्मा को मनमानी करनेवाला माना जाय जिस की इच्छा ही कानून हो तो उसके भक्त चापलूस, अन्धविश्वासी, मतान्ध और सिद्धान्त विहीन हो जाते हैं। उनकी उपासना भी एक विचित्र गोरखधन्धा होता है। जो व्यक्ति उनके विचारों के अनुकूल नहीं होते उनके साथ उनका व्यवहार बड़ा कठोर और निर्मम होता है। वे अपने विरोधियों को धर्म विरोधी मानकर उनको मार डालने वा उन पर जघन्य अत्याचार करने में आगा-पीछा नहीं सोचते। इतना ही नहीं वे अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिये वीभत्स से वीभत्स अनुष्ठान करने लग जाते हैं। उनके इष्टदेव की इस भावना के कारण ही धार्मिक अत्याचार और युद्ध होते हैं। साधारणतः इस प्रकार के लोगों में देवता की सन्तुष्टि के लिए पशु बलि और नर बलि की प्रथाएँ प्रचलित हो जाती हैं। इस प्रकार के भक्तों में वे सब दुर्गुण घर कर जाते हैं जो स्वेच्छाचारी के दरबार में व्याप्त होते हैं। जिस समाज की इस प्रकार के स्वेच्छाचारी ईश्वर में निष्ठा होती है उसमें कुशासनपूर्ण राज्य की तरह चोर बाज़ार गर्म रहता है। इसी प्रकार अशुद्ध भावनावाले मत में कल्पित देवी-देवताओं और नामधारी पण्डे-पुजारियों को घूस देने का क्रम जारी रहता है। इस प्रकार के मतों के अनुयायी यह समझने लग जाते हैं कि देवी-देवताओं को सन्तुष्ट करने से उनके

दुष्कर्मों पर परदा पड़ जाता था उनका अनिष्ट प्रभाव मिट जाता है। वैदिक भावना के अनुसार ईश्वर निर्लेप शासक है। वह अखिल विश्व पर शासन करता है परन्तु अपने लिये नहीं! सर्वोत्तम मानवीय शासक का भी शासन-कार्य में थोड़ा बहुत स्वार्थ रहता है भले ही वह पार्थिव न हो, आध्यात्मिक तो होता ही है। आदर्श राजा अपने मन में कह सकता है "यदि मैं निःस्वार्थ भाव से अपनी प्रजा पर शासन करूँगा तो परमात्मा मुझे इस सत्कार्य का बदला देगा। परन्तु सृष्टि के शासन में परमात्मा का तो इतना भी स्वार्थ नहीं होता। उसका स्वार्थ शत प्रतिशत अपनी प्रजा में होता है स्वयं अपने में नहीं।" ऋग्वेद के एक मन्त्र में अलङ्कार रूप में इस भाव का वर्णन किया गया है।[१]

परमात्मा फल भुगतानेवाला और आत्मा फल भोगनेवाला होता है। थोड़े से विचार से यह अलङ्कार सुस्पष्ट हो जाता है। मेरे शरीर में आत्मा के समान ही परमात्मा का निवास है परन्तु ईश्वर द्वारा निर्मित मेरा शरीर सर्वथा मेरे लाभ के लिए ही होता है। परमात्मा मेरी आँख बनाता है परन्तु उसमें उसका जरा भी स्वार्थ नहीं होता। वह शत प्रतिशत अलग रहता है। परन्तु आँख का प्रयोक्ता मैं हूँ। दृष्टि का लाभ मैं उठाता हूँ। यही बात अन्य बातों के विषय में कही जा सकती है।

इस वेदमन्त्र की व्याख्या स्वरूप मुण्डकोपनिषद् में दो मन्त्र और आते हैं[२] उनका भाव इस प्रकार है—

"जब जीव ब्रह्माण्डरूपी वृक्ष के फलों को खाकर फल प्राप्ति के बन्धन में अपने को डाल लिया करता है तब असमर्थता और परतन्त्रता से मोह ग्रस्त होकर दुःख उठाया करता है। उसका यह दुःख-जब वह भोगों से पृथक् रहकर साक्षी मात्र रहनेवाले ईश्वर की ओर चलकर उसकी महिमा का निरीक्षण करता है और उस महिमा के निरीक्षण से उस (ईश्वर) के प्रति अपने हृदय में श्रद्धा

---

१. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

—ऋ० १।१६४।२०

२. **समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।**
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ १॥

उत्पन्न करता है-तब दूर हुआ करता है।''

''जब द्रष्टा जीव जगत् के कर्त्ता, प्रकाशमान्, ज्ञानदाता ईश्वर को देखता है तब सांसारिक पुण्य और पाप अथवा सुख-दुखः से पृथक् और निर्लेप होकर समता को प्राप्त कर लेता है।''

इन दोनों मन्त्रों का सारांश यह है कि परमात्मा की अनुभूति से आत्मा की नैतिक भावना प्रखर हो जाती है। मन में दुष्ट विचारों का जमाव तभी तक रहता है जब तक शरीर में अवस्थित परमात्मा आँखों से ओझल रहता है। संगठित समाज अपने सदस्यों के पारस्परिक सौहार्द और प्रेम के बल जीता है। जैसी हमारी सत्ता है वैसी ही दूसरों की है लोगों की इस भावना पर यह सौहार्द और प्रेम अवलम्बित होते हैं। इसे हम आध्यात्मिक भ्रातृत्व कह सकते हैं। एक माता से उत्पन्न मनुष्य आपस में भाई-भाई होते हैं क्योंकि उनमें शारीरिक भ्रातृत्व होता है। ज्यों-ज्यों कौटुम्बिक दूरी होती जाती है त्यों-त्यों इस भ्रातृत्व में स्थूलता आती जाती है। यही कारण है कि केवल मात्र वंश और जन्म पर आश्रित भ्रातृत्व से उच्च कोटि की संस्कृति का विकास नहीं होता। शेर वा भेड़िये के बच्चे बचपन में मिलकर रहते हैं। समस्त जंगली (असभ्य) लोग अपने भाई-बन्धुओं को प्यार किया करते हैं। अपने व्यक्तियों को प्यार करना और दूसरों से घृणा करना यह सभ्य व्यक्ति का लक्षण नहीं होता। साम्प्रदायिकता और जातीयता आदि इन सब का उद्भव शारीरिक भ्रातृत्व की भावना से होता है। आध्यात्मिक भ्रातृत्व वस्तुतः बड़ी सुन्दर वस्तु होती है। यजुर्वेद के एक मन्त्र[१] में कहा गया है—

''जो सब प्राणियों में परमेश्वर को और परमेश्वर में सब प्राणियों को देखता है उसे दुःख नहीं होता।''

परमात्मा उच्चतम चेतन सत्ता होती है जो एक आत्मा को दूसरे के साथ संयुक्त करती है। यही आत्मिक भ्रातृत्व उच्च कोटि की

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमु पैति॥ २॥

—मुण्डकोपनिषद् ३।१

१. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ —यजु० ४०।६

संस्कृति का आधार होता है। ''पिता, हम सब तेरे बालक हैं। अपने भाइयों का प्यार करना तुझे प्रसन्न करने का सर्वोत्तम मार्ग है।''

''जो सब प्राणियों को परमात्मा में अवस्थित हुआ देखता है वह सब दु:खों, क्लेशों और ममताओं से मुक्त रहता है क्योंकि वह सबमें एकत्व देखता है।''

वैदिक आस्तिकवाद की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक आत्मा का परमात्मा के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। मेरे और मेरे परमात्मा के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं है। जब परमात्मा मेरे हृदय में है तो वह अन्य किसी की अपेक्षा मेरे अधिक निकट है 'तू हमारा है और हम तेरे हैं।'[१] वह दूर है। वह निकट है। वह हमारे भीतर है। वह हमारे बाहर है।[२]

एक बात और कहकर हम अपने कथन को समाप्त करते हैं। कदाचित् तुम यह प्रश्न करो कि वेद के अनुसार सभ्य समाज में ऋषि या महान् शिक्षक का क्या स्थान होता है? मार्गदर्शक होने के कारण क्या वह अन्यों से ऊँचा नहीं होता? नि:सन्देह हम उसकी उच्चता को स्वीकार करते हैं। समस्त शिक्षक अपने शिष्यों से उच्च हुआ ही करते हैं परन्तु वे अपनी उच्चता के कारण परमात्मा के दरबार में अपने शिष्यों का प्रतिनिधित्व करने के अधिकारी नहीं बन जाते। वे मार्गदर्शक होते हैं परन्तु वे मध्यस्थ का काम नहीं करते। इसी कारण विशुद्ध वैदिक काल में परमात्मा के साथ किसी शिक्षक वा गुरु की पूजा न होती थी। स्वयं ऋषि जन उसी परमात्मा की उपासना करते थे जिसकी उनके शिष्य किया करते थे और अपने उदाहरण से वे उपासना की रीति बतलाया करते थे! जब शिक्षकों ने अपने को परमात्मा का प्रतिनिधि वा मध्यस्थ बताना आरम्भ कर दिया तभी प्रजा उन्हें परमात्मा के प्रतिनिधि के रूप में पूजने लगी और इस प्रकार परिमित ज्ञान और शक्तिवाले माननीय सम्राट् की समस्त दुर्बलताएँ परमात्मा के मत्थे थोंपी जाने लगीं। वे एक सीधी-सादी बात भूल गये और वह यह कि जब परमात्मा मेरे हृदय में

१. त्वमस्माकं तव स्मसि ॥ —ऋ० ८।९२।३२

२. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ —४०।७

विद्यमान् है तो मैं किसी मध्यस्थ की खोज क्यों करूँ? इस प्रकार के अन्धविश्वासों से मानवीय संस्कृति का बड़ा अपकार हुआ है। इन्हीं के कारण मनुष्य भिन्न-भिन्न गुरुओं के चेले बने और द्वेष एवं वैमनस्य की आग सुलगी। वे कहते हैं कि हमारा सम्बन्ध भिन्न-भिन्न वर्गों से है क्योंकि हमारे गुरु भिन्न-भिन्न हैं। वे भूल जाते हैं कि परमात्मा एक है और इसलिए हम सब एक हैं। धार्मिक क्षेत्रों में देख पड़नेवाली अधिकांश कटुता का कारण परमात्मा वा उसकी उपासना नहीं है अपितु उसका कारण मध्यस्थ, पैगम्बर, प्रतिनिधि, पण्डे, पुरोहित और उन जैसे लोग हैं जो लोगों को यह कहकर ठगते हैं कि आध्यात्मिकता पर हमारा वा हमारे शिष्यों का एकाधिकार है।

(७)

वैयक्तिक उन्नति और समाज

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्॥

''एक साथ चलो, एक साथ बोलो और तुम्हारे मन एक हों?''

इस वेदमन्त्र में मिलकर काम करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। मनुष्य समूह में रहनेवाला प्राणी कहलाता है। समूह में रहनेवाले और भी पशु होते हैं परन्तु समूह में रहना और समाज बनाना ये दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ होती हैं। केवल मनुष्य ही समाज में रहनेवाला प्राणी होता है। उपर्युक्त तीन वस्तुओं में पहली दो लाक्षणिक होती हैं और तीसरी मौलिक। समाज के निर्माण में मनों का आपस में मिलना एक विशेष स्थान रखता है। दस हजार व्यक्तियों के एक स्थान पर एकत्र होने से भीड़ तो बन सकती है समाज नहीं बन सकता। समान विचारोंवाले दस या बारह व्यक्ति एक साथ मिलकर और संगठित होकर समाज का संगठन कर सकते हैं।

जब संस्कृति का अर्थ आत्मा की बीज शक्ति का चरम विकास है तब समाज के संगठन की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का समाधान बड़ा सरल है। मनुष्य की तात्विक शक्तियों में स्वतः विकास की क्षमता नहीं होती। उनके विकास के लिए बाह्य सहायता की आवश्यकता हुआ करती है। बीज का उगना और बढ़ना खाद, जल, वायु और उष्णता आदि पर निर्भर होता है। उसे अन्य बीजों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। यदि किसी व्यक्ति को अच्छे-से-अच्छे भौतिक वातावरण में अकेला छोड़ दिया जाय तो उसका विकास कभी न होगा। कल्पना करो एक मनुष्य है। वह किसी द्वीप में अकेला छोड़ दिया गया है और भोजन, जल, वायु और उष्णता आदि की प्रत्येक सम्भव सुविधा उसे दी गई है। क्या तुम समझते हो वहाँ उसकी आत्मा का विकास हो जाएगा? कदापि

नहीं। अवश्य उसका शरीर उन्नत हो जाएगा। किसी ऐसे व्यक्ति से अकेलेपन का अर्थ पूछो जो एकान्त कारावास में रह चुका हो। आत्मा के विकास के लिए अन्य आत्माओं के सम्पर्क की आवश्यकता होती है। इसीलिए समाज संगठन के अन्तर्गत बहुत-सी भौतिक वस्तुएँ हुआ करती हैं। परस्पर विचार के लिये भाषा अपेक्षित होती है। भाषा को मुखों की और मुखों को अन्य वस्तुओं की आवश्यकता होती है और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। इसी प्रकार आत्मिक सम्पर्क के लिए भौतिक सम्पर्क आवश्यक होता है परन्तु व्यक्तियों का आत्मिक विकास आत्मिक सम्पर्क के बिना सम्भव नहीं होता। शरीर के विकास में दृश्यमान सामग्री काम आती हैं। आत्मिक विकास का अर्थ वह अदृष्ट और सूक्ष्म प्रभाव है जो एक आत्मा का दूसरी आत्मा पर उसके आभ्यन्तरिक गुणों को परिमार्जित करने के लिए पड़ा करता है। असहिष्णुता, आत्मसंयम हर्ष और प्रेम आदि ऐसे गुण हैं जिनको विकसित करने की आवश्यकता होती है। उनका स्वत: विकास नहीं हो सकता।

इससे यह सिद्ध हुआ कि संस्कृति के निर्माण में समाज संगठन का बहुत बड़ा योग होता है। वैदिक संस्कृति में सामाजिक पुरोगम बड़े विस्तार में दिया हुआ है जिस पर आगे विस्तार पूर्वक विचार किया जाएगा। यहाँ हम केवल एक बात पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं और वह यह कि व्यक्ति का समाज में क्या स्थान है? प्राय: पूछा जाता है कि क्या समाज के हितों पर व्यक्ति के हितों की और व्यक्ति के हितों पर समाज के हितों की बलि चढ़ाई जा सकती है? यह प्रश्न बड़ा जटिल है और इस पर होनेवाले विवाद प्राय: औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। उन्नत समाज में व्यक्ति और समाज के हितों में कोई भेद न होना चाहिये। भेद हो भी क्यों? समाज व्यक्तियों से बनता है अतएव समाज को बनानेवाले व्यक्तियों से पृथक् समाज की अपनी कोई सत्ता नहीं होती। परन्तु हम कभी-कभी कुत्सित और दूषित मनोभावना के कारण इस दृष्टिकोण पर बड़ी संकुचित दृष्टि से विचार करते हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य के प्रत्येक प्रकार के हित पर दृष्टि रखना और उसे पवित्र समझना समाज का मुख्य कर्त्तव्य होता है। इसके

लिये समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने अधिकार के साथ-साथ अपने कर्त्तव्य को भी समझना होता है। उसे अपने हितों की भाँति दूसरों के हितों पर भी उचित ध्यान देना पड़ता है। जिस शरीर का प्रत्येक अवयव स्वस्थ हो वह शरीर स्वस्थ कहलाता है। यदि मेरे शिर में पीड़ा हो रही हो तो न केवल मेरा शिर ही रोगी है अपितु उसके कारण मेरा समस्त शरीर कष्ट पाता है। यदि मेरे हाथ वा शरीर के किसी अवयव के कारण यह पीड़ा हो रही हो तो समझ लेना चाहिये कि मेरे शारीरिक गठन में कोई त्रुटि है। अन्यथा यह कैसे सम्भव होता कि मेरा हाथ यह भूलकर कि वह मेरे शरीर का ही एक अवयव है मेरे शिर को पीड़ा पहुँचाता? इससे इस सत्य की पुष्टि होती है कि शिर और हाथ के तारतम्य में जो एक ही शरीर के साथ रहनेवाले अवयव हैं, ढीलापन आ गया है। जिस सीमा तक व्यक्ति सामाजिक हितों के मूल्य पर अपने व्यक्तिगत हितों के संरक्षण की आवश्यकता अनुभव करता है उस सीमा तक सामाजिक शरीर को रोगग्रस्त समझना चाहिये। इस प्रकार आचरण करनेवाला व्यक्ति स्वयं भी उस रोग का शिकार बन जाता है। जिस शरीर के साथ व्यक्ति ग्रथित हो यदि यह अछूता न हो तो व्यक्ति कैसे अछूता रह सकता है? उसके अछूता रहने का भी कोई अर्थ न होगा। वह सर्वप्रथम शारीरिक व्यवस्था को हानि पहुँचाता है और इसके तत्काल बाद अपनी आत्मा को। कल्पना करो कि किसी दाँत में पीड़ा हो रही है परन्तु वह चाहता है कि दाँत निकाला न जाय। दाँत में पीड़ा का होते रहना और ऐसी अवस्था में उसका शरीर में बने रहना ये दोनों बातें सम्भव नहीं हो सकतीं। या तो पीड़ा बन्द होनी चाहिये और उसे शरीर का साथ देना चाहिये अन्यथा वह निकाल दिया जाएगा। यदि वह इतना दृढ़ हो कि शरीर उसे बाहर निकालने के लिए विवश न कर सके तो निश्चय ही शरीर को कष्ट होगा। परन्तु इससे दाँत को भी कष्ट होगा। यह शरीर में रुग्ण दाँत के रूप में न रह सकेगा उसे गल जाना होगा। दाँत उसी समय तक दाँत रहता है जब तक उसका उचित पोषण होता रहे और अपनी सेवा के बदले में उसे शरीर का सहयोग प्राप्त रहे। तुम कह सकते हो इस प्रकार का आदर्श समाज कहाँ है? यह ठीक है इस प्रकार

का स्वस्थ समाज नहीं है। व्यावहारिक रूप से लोग अपने स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखते हैं। परन्तु कार्यवाहक (काम चलाऊ) शारीरिक स्वास्थ्य की भी सीमा होती है। इसी भाँति सामाजिक स्वास्थ्य की सीमा होती है। शरीर में रोग होते हैं परन्तु जब तक वे नगण्य रूप में रहते हैं तब तक हम शरीर को स्वस्थ कह सकते हैं। सीमा का उल्लंघन हो जाने पर हम अधिकारपूर्वक मनुष्य के रोगी हो की घोषणा कर सकते हैं। इसी प्रकार समाज को निकृष्ट और संशोधनीय घोषित करने से बहुत पूर्व उसमें व्यक्तिगत स्वार्थों और दुर्बलताओं के रूप में सामाजिक रोग नगण्य रूप में विद्यमान रहते हैं। परन्तु हमें आदर्श को आँखों से ओझल न होने देना चाहिये। आदर्श पर दृष्टि रखना रोग को रोकने का एक मात्र उपाय है। आदर्श तुम को अपनी ओर खींचता और अपने सन्निकट रखता है। आदर्श का केवल इस आधार पर परित्याग कर देना मूर्खता है कि उस तक पहुँचने की तुम्हें आशा नहीं है। आदर्श तो सदैव आदर्श ही रहता है। तुम्हारे द्वारा उसका परित्याग कर दिये जाने पर उसकी व्यावहारिक उपयोगिता नष्ट नहीं हो जाती। यह उपयोगिता आध्यात्मिकता से सम्बद्ध होती है यद्यपि इसका माध्यम भौतिकता होती है। आदर्श को लक्ष्य में रखना भी एक प्रकार की आध्यात्मिक प्रक्रिया होती है। हम आदर्श के जितने अधिक निकट होंगे उतने ही अधिक हम आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होंगे। आदर्श के निकट होना आत्मा की शरीर पर विजय होती है।

कदाचित् धार्मिक वृत्तिवाले व्यक्ति यह प्रश्न करें कि जब आध्यात्मिक उन्नति के लिये समाज अपरिहार्य होता है तो संसार से विरक्त होने की क्या उपादेयता रह जाती है?

इस प्रश्न के समझने में प्रायः भूल होती है। कुछ लोगों का मत है कि संसार का परित्याग किये बिना आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। परन्तु यदि यह सत्य हो तो प्राकृतिक जगत् के अस्तित्व का औचित्य क्या रहा? स्मरण रक्खो जीवन का ध्येय किसी दशा में भी भौतिक नहीं हो सकता। घोर जड़वादियों को भी यह सत्य स्वीकार करना चाहिये। तुम धन के लिये धन की कामना नहीं करते अपितु उन वस्तुओं के लिये धन की कामना करते हो जो धन से

क्रय की जा सकती हैं। तुम उन वस्तुओं (भोजन वस्त्रादि) को शरीर की रक्षा के लिये चाहते हो उन वस्तुओं के लिये नहीं। तुम स्वस्थ शरीर चाहते हो शरीर के लिये नहीं अपितु अपने लिये। इस प्रकार यह प्रश्न घूम फिर कर तुम्हारी ओर आ जाता है। याज्ञवल्क्य ऋषि ने मैत्रेयी को जो उपदेश दिया था उसे पुनः स्मरण करो। यदि आध्यात्मिक उन्नति के लिये भौतिक उन्नति आवश्यक है तो फिर संसार-परित्याग से क्या लाभ? यजुर्वेद ने तीन साधारण शब्दों[१] में इस प्रश्न का जैसा उत्तम समाधान प्रस्तुत किया है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। इन तीन शब्दों में गहरा तत्त्व ज्ञान भरा हुआ है। वेद में सब से पहले उपभोग (भुञ्जीथाः) करने का उपदेश दिया गया है। क्या बिना उपभोग के तुम्हारा काम चल सकता है। तुम अपने घर को छोड़ सकते हो परन्तु ऐसा करके तुम जहाँ जाओगे वहाँ भी बिना घर के न रह सकोगे। यह तो एक घर को छोड़कर दूसरे घर को बदलने के समान होगा। यह परिवर्तन अच्छे के लिये होगा या बुरे के लिये इसकी मीमांसा करना व्यर्थ है। तुम अपने पारिवारिक नातों को तोड़ सकते हो परन्तु तुम से सामाजिक नाता नहीं टूट सकता। तुम दूसरों पर निर्भर रहना छोड़ सकते हो। आन्तरिक रूप से नहीं बाह्य रूप से। ज्यों ही प्रत्यक्ष निर्भरता दूर होती है त्यों ही अप्रत्यक्ष और अदृष्ट निर्भरता उसका स्थान ले लेती है। जिस समाज से नाता तोड़ लेने की तुम डींग मारते थे यही तुम्हारे पीछे दौड़ता और निविड़ बन के अंधियारे कोने में भी तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ता है। तुम वहाँ भी सामाजिक प्राणी बने रहते हो। इस प्रकार सत्य यह है तुम से संसार नहीं छूटा।

संसार के उपभोग के दो प्रकार हैं। एक तो उसमें लिप्त होकर और दूसरा उससे अलिप्त रहकर। संसार में लिप्त रहने से अन्त में दुःख और उससे अलिप्त रहने से सुख मिलता है। संसार में लिप्त रहना मधुर विष होता है और अलिप्त रहना कठोर गोली होती है जिसका गले उतारना कठिन होता है। इन दोनों दशाओं के मध्य कई मध्यवर्ती अवस्थाएँ होती हैं। इस बात को हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। कल्पना करो तुम किसी रम्य स्थान को जा

१. **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ॥** —यजुर्वेद ४०।१

रहे हो। उस स्थान को तुम स्वर्ग कह सकते हो भाषा-शास्त्र के कलाविदों ने स्वर्ग का वर्णन करते हुए उसे वह स्थान बतलाया है जहाँ सदैव आनन्द मङ्गल रहता और दुःख का नाम नहीं सुन पड़ता है! वह स्थान कहाँ है इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। हम इतना ही कह सकते हैं कि वह स्वर्ग है और तुम उसकी ओर बढ़े चले जा रहे हो। इस स्थान को जानेवाला मार्ग स्निग्ध और कोमल है और इसका वातावरण मनोरम है। इस मार्ग पर यात्रा करना बड़ा सुखद और मोदप्रद होता है। इसकी छवि से मुग्ध होकर तुम धीरे-धीरे पग बढ़ाते हो। तुम्हारा मन आगे बढ़ने के स्थान में इस छवि में फँस जाता है। उस समय तुम दुविधा में पड़ जाते हो! तुम सोचने लगते हो कि ठहरा जाय या आगे बढ़ा जाय। यदि तुम ठहर जाते हो तो गन्तव्य स्थान पर देर में पहुँचोगे। यदि आगे बढ़ते हो तो उन सुन्दर वस्तुओं से बिछुड़ने में तुम्हें दुःख होता है। बताओ उस समय बुद्धिमान् व्यक्ति के रूप में तुम क्या करोगे? सम्भवतः तुम्हारे हृदय और मस्तिष्क में संघर्ष छिड़ जाये? हृदय भोगों में लिप्त होना चाहेगा और मस्तिष्क हानि-लाभ का हिसाब लगाना चाहेगा! कदाचित् तुम भोगों में लिप्त हो जाओ। क्षणभर ठहरकर इस प्रयोग का परीक्षण करो। परीक्षण करते ही तुम्हें यह ज्ञात हो जाएगा कि तुम्हारे हृदय को लुभानेवाली मधुरता शनैः शनैः नष्ट हो रही है और तुम्हारी प्रिय वस्तुएँ तुम्हें अरुचिकर प्रतीत हो रही हैं। ज़रा अपने अनुभव का विश्लेषण तो करो। वस्तु वही है जो पूर्व थी। परन्तु इसकी मधुरता नष्ट हो रही है। इस मधुरता को कौन नष्ट कर रहा है? जो वस्तु कभी रुचिकर थी उसे कौन अरुचिकर बना रहा है? तुम उससे क्यों तंग आ रहे हो? इसमें वस्तु का कोई अपराध नहीं है अपराध तो तुम्हारी आसक्ति का है। अन्ततः यह तुम्हारी यात्रा का एक भाग था गन्तव्य स्थान न था। तुमने भूल से इसे गन्तव्य स्थान समझ लिया। तुमको इसमें से होकर निकलने की अनुमति थी। उसमें ठहरने की अनुमति न थी। संसार में तुम राजपथों को देखते हो जिन पर चलने की आज्ञा तो होती है परन्तु ठहरने की नहीं। यदि तुम उन पर ठहर जाते हो तो चौकी पर खड़ा हुआ सिपाही चिल्लाकर कहता है "चले जाओ" इसी भाँति संसार के

विधाता परमेश्वर ने सांसारिक वस्तुओं में अदृष्ट सिपाही खड़े कर रखे हैं जो चिल्लाकर कहते हैं "आगे बढ़ो" यदि तुम उस अकर्णगोचर ध्वनि को नहीं सुनते हो तो तुमको मोहनेवाली मधुरता नष्ट होने लग जाती है। परमात्मा ने इन वस्तुओं को तुम्हारे उपभोग के लिये बनाया है जो यात्रा में प्रयुक्त होती है न कि गन्तव्य स्थान पर। वह मधुरता तुमको आगे बढ़ने में योग देने के लिये अभिप्रेत थी न कि ठहरने में सहायता करने के लिये। संसार के इस सूक्ष्म तारतम्य पर विचार करो। वस्तु वही है परन्तु उसका माधुर्य और सौन्दर्य न जाने कहाँ चला गया? इसीलिए वेद कहता है कि "अलिप्त रहकर उपभोग करो।" इसका अभिप्राय यह है कि यात्री के रूप में सांसारिक पदार्थों का उपभोग करो। उनमें ममता मत जोड़ो। तुम्हें शीघ्र ही यहाँ से चला जाना है और साथ ही यात्रा की प्रत्येक मंजिल तय करनी है। प्रत्येक मंजिल को तय कर लेने पर इसको छोड़ दो और उस पर भूलकर भी न ठहरो। सांसारिक पदार्थों के साथ होनेवाला संसर्ग नित्य नहीं अनित्य होता है। सत्य यह है कि यह संसार मनुष्य के लिये यात्रा होती है निवास स्थान नहीं होता। यदि तुम इस यात्रा-पथ-स्वरूप संसार को निवास स्थान बनाकर उसमें ठहर जाओगे तो निश्चय ही जो विशेषाधिकार यात्री के रूप में तुम्हें प्राप्त होंगे तुम उनकी सीमाओं का अतिक्रमण कर डालने के अपराधी होगे और इस अपराध के दण्ड से तुम बच न सकोगे। यह दण्ड मनुष्य को भीतर से मिलता है बाहर से नहीं! स्वयं भोग उच्च स्वर में कहते हैं "बस करो।" यात्री का मार्ग के प्रति जो प्रेम होता है उसमें ममता का अंश नहीं होता। वह अपनी यात्रा के लिये उससे प्रेम करता है उस पर निवास करने के लिये नहीं। यह उपमा संसार के सब प्रकार के भोगों पर चरितार्थ होती है। मुट्ठीभर शक्कर लेकर उसे अपने मुँह में डालो। यह मीठी है। इसे लगभग २ घण्टे तक अपने मुँह में रखे रहो। तुम्हें अनुभव होगा कि उसकी मधुरता नष्ट हो चुकी है और वह तुम्हें अरुचिकर प्रतीत हो रही है। मान लो कोई व्यक्ति हत्या की धमकी देकर तुम्हे कुछ घण्टों तक उस शक्कर को मुँह में रखे रहने के लिये बाधित करता है। उस अवस्था में क्या तुम शक्कर को वैसा ही पसंद करोगे जैसा

प्रारम्भ में पसन्द किया था? क्या तुमको यह कड़वी न लगेगी? इसमें शक्कर का अपराध नहीं अपितु तुम्हारा अपना अपराध होगा। संसार मार्ग पर तुम्हें यात्रा करने की अनुमति थी परन्तु तुम उसमें निवास करने लगे। तुम जीवन के जिस विभाग से चाहो और जितनी मात्रा में चाहो सांसारिक भोगों यथा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को लेकर इस सत्य का परीक्षण कर डालो। एक सुन्दर चित्र लो और कुछ देर तक उस पर दृष्टि जमाए रखो। क्या तुमको यह अनुभव न होगा कि चित्र का सौन्दर्य धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है? तुम संसार के पदार्थों का उपभोग कर सकते हो परन्तु उसमें ममता मत जोड़ो। वेद कहता है ''अलिप्त रहकर उपभोग करो'' इस प्रकार उपभोग करनेवाले के लिये संसार सुखधाम और इससे विपरीत आसक्ति पूर्वक उपभोग करनेवाले के लिये दु:ख धाम बन जाता है। जिस वेदमन्त्र के तीन साधारण शब्दों को हमने ऊपर उद्धृत किया है उसी में आगे कहा गया है 'मा गृध:' ममता मत जोड़ 'कस्यस्वित् धनम्' यह सम्पत्ति किसकी है? 'अर्थात् केवल तुम्हारी नहीं है अपितु समस्त प्रजा की है।' तुम्हें सार्वजनिक उद्यान में घूमने की आज्ञा है परन्तु यदि तुम उसमें रहने लग जाओगे तो बाहर निकाल दिये जाओगे। उद्यान का प्रबन्धकर्त्ता कहता है 'तुम यहाँ क्यों ठहरे हो?' यह उद्यान तुम्हारा नहीं है, तुम इसमें आ जा सकते हो किन्तु ठहर नहीं सकते संसार एक यात्रा है। इसका तुम यात्री के रूप में पूर्ण उपभोग कर सकते हो।

जो व्यक्ति संसार से विरक्त हो जाने की सोचते हैं वे भूल करते और मृग मरीचिका के पीछे दौड़ते हैं। जंगलों और भगवावस्त्रों में भी कुत्सित मनोविकारों और वासनाओं से परिपूर्ण शरीर रह सकते हैं परन्तु शान्त वातावरण और कोलाहल-शून्य स्थान में आत्मचिन्तन के लिये अवसर की प्राप्ति को जो विरक्ति मानते हैं वे भूल नहीं करते। गहन-चिन्तन के लिये विघ्न-बाधाओं से रहित एकान्त स्थान की आवश्यकता हुआ करती है। इसका अर्थ समाज को छोड़ देना नहीं होता। इसका अर्थ मन को व्यथित करनेवाले कोलाहल से दूर रहना होता है। संसार के पदार्थों में आसक्त न होकर उनका उपभोग करना भी विरक्ति समझी जाती है। संसार-यात्रा को पूर्ण करने के

लिये यह अनासक्ति अनिवार्य होती है। इसी तथ्य पर इस अध्याय में स्थान-स्थान पर बल दिया गया है। जब से हम जन्म लेते हैं तब से ही हमें कुछ पदार्थों के उपभोग की आवश्यकता हुआ करती है। ज्यों-ज्यों हम बड़े होते हैं त्यों-त्यों हमारे उपभोग्य पदार्थ बदलते रहते हैं। हमारा जीवनस्तर जितना ऊँचा होता रहता है उतनी हमारी रुचियाँ कम होती रहती हैं। दो या तीन वर्ष के बालक को जो रुचिकर होता है वही छह या सात वर्ष के बालक को अरुचिकर होता है। नवयुवक अन्य प्रकार के भोगों की ओर आकृष्ट होता है। यदि वह अपने बाल-काल के भोगों में रत रहता हो तो समझो उसके विकास में कहीं कोई भयंकर त्रुटि रह गई है। बीस या पच्चीस वर्ष का हो जाने पर भी वह बालक बना रहता है। उसका शरीर तो विकसित होता है परन्तु मन विकसित नहीं होता।

इसी प्रकार युवावस्था की रुचियों की भी सीमा होती है। वृद्धावस्था के आगमन के साथ-साथ ये रुचियाँ भी क्षीण होती रहती हैं। यदि ये रुचियाँ बनी रहें तो समझ लो आत्मिकोन्नति कुण्ठित हो रही है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि शरीर की वृद्धि के रुक जाने पर भी मानसिक शक्तियाँ विकसित होती रहती हैं। मनुष्य की भुजायें एक नियत सीमा के बाहर नहीं बढ़तीं परन्तु वह शक्ति जिसके बल पर भुजायें काम करती हैं बढ़ती रहती हैं। जहाँ भुजायें नहीं पहुँचती वहाँ मन या बुद्धि की भुजा पहुँच जाती है। शस्त्र तो यन्त्रों से निर्मित एक नियत आकार की भुजायें होती हैं परन्तु ये भुजायें बुद्धि बल से बड़ी से बड़ी बन सकती हैं। जब मनुष्य की आत्मिकोन्नति होने लगती है तब उसकी शारीरिक क्रियाओं में शिथिलता आने लगती है और उनके स्थान में आत्मिक गुणों से सुख मिलता है। उदाहरण के लिए उस समय कायिक वासनाओं से दूषित हुआ प्रेम स्वच्छ हो जाता और उसकी अस्वच्छता दूर होकर यह चमक जाता है। स्त्री का प्रेम अपने पुत्र वा पुत्री के प्रति जितना उदात्त होता है उतना अपने पति वा प्रेमी के प्रति नहीं होता। प्रेमी वा पति के प्रेम में वासना का पुट लगा होता है। मनुष्य का अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम अपने बच्चों के प्रेम से अधिक उज्ज्वल होता है। अध्यात्म-साधना के लिये सूने स्थान पर बैठनेवाले महात्मा

से भी संसार नहीं छूटता। संसार से उसका पृथक् करण केवल भौतिक होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से उसे संसार की बड़ी चिन्ता होती है। वह आत्मा का साक्षात्कार करता है। वह उन सत्यों की खोज में निरत रहता है जिनसे जन-समुदाय के अन्तिम हितों की सिद्धि होती है। वह उस विज्ञान-वेत्ता के समान होता है जो प्रयोगशाला में बैठा हुआ विविध प्रकार के प्रयोगों में निमग्न रहता है और जो बाद में जन-समाज के लिए देन सिद्ध होते हैं। परन्तु इन सब प्रयोगों की उपयोगिता और अनुपयोगिता प्रयोक्ता की मनोवृत्ति पर निर्भर होती है। प्रत्येक चमकीली वस्तु सोना नहीं होती।

(८)

कृषि

सभ्य व्यक्तियों को एक दूसरे से बाँधनेवाली सब से पहली ग्रन्थि कदाचित् कृषि है। अपने जीवन-निर्वाह के लिए प्रत्येक चेतन प्राणी को भोजन की आवश्यकता होती है और कोई जाति भोजन के लिये शत प्रतिशत प्रकृति पर निर्भर नहीं रह सकती। ऐसा होना बड़ा उत्तम है अन्यथा मनुष्य को प्रकृति से ऊपर उठने की प्रेरणा न मिलती। मनुष्य की आन्तरिक शक्तियाँ सब से पहले भोजन व्यवस्था के लिए ही क्रिया में आती हैं और मनुष्य ने सर्वप्रथम जिस कला का आश्रय लिया था वह निश्चय ही कृषि होगी। ऋग्वेद में कृषि विषय पर बहुत-सी सामग्री उपलब्ध होती है। ऋग्वेद ४।२६।२ में हम पढ़ते हैं—

१. "मैं परमेश्वर आर्य पुरुष को भूमि प्रदान करता हूँ।"

२. ऋग्वेद में कृषि की समृद्धि के लिये एक प्रार्थना इस प्रकार है—

"हे विद्वान् पुरुष! जिस प्रकार से आप लोग उत्तम पुत्र और अगली सन्तति पौत्रादि को प्राप्त करने के लिये आदान योग्य अक्षय अमोघ बीज को धारण करते हो उसको हम प्रजाजनों के कल्याण के लिये भी धारण करो और हमें भी धारण कराओ। जिस उत्तम ऐश्वर्य की हम आप लोगों से याचना करते हैं वह समस्त जीवन पर्यन्त उत्तम सेवन करने योग्य कल्याण जनक हो।"

पृथ्वी उसके लिये ही बहुत ऐश्वर्यों को धारण करती है, इत्यादि-इत्यादि।

---

१. **अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय॥** —ऋ० ४।२६।२

२. **येन तोकाय तनयाय धान्यं बीजं वहध्वे अक्षितम्।**
अस्मभ्यं तद्धत्तन यद्व ईमहे राधो विश्वायु सौभगम्॥

—ऋ० ५।५३।१३

परन्तु पृथिवी को जोतकर ही अन्न उत्पन्न करना होता है। केवल पशु ही पृथ्वी की नैसर्गिक उपज घास और वनस्पति इत्यादि पर निर्भर रह सकते हैं। मनुष्य उच्च गुणों से विभूषित होता है अतः उसके गुण पूर्णतः क्रिया में आने चाहिएँ।

कृषि के लिये जल और भूमि ये दो पदार्थ मुख्य रूप से आवश्यक होते हैं। जल वर्षा से प्राप्त होता और आकाश से पृथ्वी पर आता है। परन्तु ऋतुओं के सर्वथा अनुकूल होने पर भी हम सर्वतो भावेन वर्षा पर निर्भर नहीं रह सकते। अतः वेद[१] में कुओं का उल्लेख है जो सहस्रों प्राणियों की प्यास बुझाने के लिये अपने जल को ऊपर फेंकते हैं।

आप लोग हलों को जोतो। जुओं को विस्तृत करो। सुसम्पादित क्षेत्र रूप स्थान में बीज को बोओ और वेद वाणी द्वारा हमारे अन्न खूब पुष्ट हों और पके धान्य के पास आवे।

क्रान्तदर्शी विद्वान् लोग खेत जोतने के साधन हल आदि को जोतते हैं। नाना युगों को पृथक्-पृथक् करते हैं।

आप लोग गौओं के पानी पीने के नाना स्थान बनाओ। उत्तम-उत्तम रज्जुओं को परस्पर जोड़ो। हम उत्तम जल युक्त उत्तम रीति से खेत सींचने में समर्थ कभी क्षीण न होनेवाले कूप को सींचे।

मैं अन्दर जल पान के स्थान से सुसज्जित उत्तम रज्जु से युक्त

---

१. पूर्वीरस्य निष्षिधो मर्त्येषु पुरू वसूनि पृथिवी बिभर्ति।
इन्द्राय द्याव ओषधीरुतापो रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि॥

—ऋ० ३।५१।५

२. परावतं नासत्यानुदेथामुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मवारम्।
क्षरन्नापो न पायनाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमस्य॥

—ऋ० १।११६।९

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा चश्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥ ३॥
सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया॥ ४॥
निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन।
सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम्॥ ५॥

उत्तम रीति से सुख पूर्वक सेचन करनेवाले अक्षय जलवाले कूप को प्राप्त कर सिंचाई करूँ।

(१) ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में कृषि का वर्णन है—

१. हम क्षेत्रपति से गौ, भूमि, पोषक धन, अन्नादि सब प्राप्त करते हैं। वह हमें ऐसे पद पर विराज कर सब प्रकार से सुखी करे।

२. जिस प्रकार क्षेत्र का स्वामी कृषक अन्न समृद्धि को प्राप्त करता है और औरों को देता है उसी प्रकार स्त्री गृह आदि निवास योग्य पदार्थों के पालक पुरुष गौ को दूध के तुल्य हमें मधुर अन्न वचन आदि से युक्त उत्तम आनन्द को प्रदान करे। घी के तुल्य उत्तम रीति से छने हुए शुद्ध पवित्र मधुर सुख देनेवाले उत्तम पदार्थ को प्रदान कर।

३. हमारे लिये औषधियाँ मधुर गुणवाली हों। सब भूमिएँ अन्नों से युक्त हों। जलधाराएँ नदियाँ सब मधुर जलवाली हों। हमारे लिये अन्तरिक्ष मधुर जल से युक्त हो। हमारे खेत का पालक अन्नों से युक्त हो।

४. हल बहनेवाले बैल अश्व आदि पशु सुख पूर्वक हल चलावें। हल भी सुख से क्षेत्र को खोदें। रस्सियाँ सुख पूर्वक पशुओं को बाँधी जावें।

५. हे सुखप्रद अन्नादि पदार्थ और 'सीर' अर्थात् हल के स्वामी

इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्॥ ६॥

—ऋ० १०।१०१-३-६

१. क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृडातीदृशे॥ १॥

२. क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूत मृतस्य नः पतयो मृडयन्तु॥ २॥
मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वंतरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ ३॥
शुनं वाहा शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गयं॥ ४॥
शुना सीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः।
तेनेमामुपसिञ्चतम्॥ ५॥

क्षेत्रपति आप जो पोषणकारी अन्न को आकाश के जल को सूर्य और वायु के तुल्य उत्पन्न करते हो।

६. हे हल के अग्रभाग फाली! हे उत्तम ऐश्वर्यवति! तू भूतल के नीचे जानेवाली हो। तेरे ऐसे गुणों का हम वर्णन करें जिससे तू सुख सौभाग्य देनेवाली हो और तू हमें उत्तम अन्न समृद्धि रूप फल देनेवाली हो।

७. ऐश्वर्यवान् पुरुष वा भूमि में जल देनेवाली, भूमि को हल से विदारण करनेवाला कृषक जन हल की फाली को अच्छी प्रकार दबाकर पकड़े। इस हल की फाली को भूमि अनुकूल होकर ग्रहण करे। तब वह भूमि जल और अन्न से परिपूर्ण होकर उत्तरोत्तर प्रतिवर्ष दूध को गौ के समान अन्नादि समृद्धि को प्रदान करती है।

८. हमारी हल की फालियाँ भूमि को सुखपूर्वक विविध प्रकार आड़े बाँके खोदें। कृषक लोग बैलों और घोड़ों से सुख पूर्वक चलें। मेघ मधुर अन्न से और जलों से पूर्ण होकर बरसे और सुख पूर्वक हल चलानेवाले कृषक सुखप्रद अन्न हम सब प्रजाओं के बीच धारण करें और दें।

इन वेदमन्त्रों से निम्नलिखित बातें सुस्पष्ट होती हैं—

(१) वेद हमें भूमि जोतने की रीति बताते हैं।

(२) कृषक का कार्य हेय नहीं है। इसका सब सम्मान करते हैं। कृषक क्षेत्रपति होता है। उसकी उपज पर निर्भर रहनेवाले सब लोग उसको सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

(३) वेदों में खेती के उत्तमोत्तम उपकरणों का उल्लेख है। हल की फाली बहुत गहरी धरती खोदती और तेज़ चलती है।

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥ ६॥
इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥७॥
शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥ ८॥

—ऋ० ४।५७।१-८

(४) खेती प्रति वर्ष होनेवाला व्यवसाय है और इस से उत्तरोत्तर उत्तम फसलें उत्पन्न होती हैं।

(५) हल की फाली गौरव की वस्तु होती है। इसकी तुलना मधुर दुग्ध देनेवाली गौ से की जाती है।

(६) वेदों के अनुसार कृषक मजदूर जैसा परिश्रम करता है परन्तु खेत की सफलता के लिये परमात्मा से सहायता माँगता है। इस प्रकार वह सदैव अपनी भौतिक समृद्धि को आध्यात्मिकता का रंग देता है।

अथर्ववेद के १२वें मण्डल का सूक्त कृषि योग्य भूमि के सुन्दर वर्णन से आरम्भ होता है जिस पर कोई भी कृषक गर्व कर सकता है। नीचे प्रथम अध्याय के कुछ मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं—

(१) चारों दिशाओं से खुली हुई वह भूमि जिस में कृषक अन्न उपजाते हैं और जो समस्त चेतन प्राणियों का पोषण करती है धन-धान्य और पशुओं से परिपूर्ण हो। (४)

(२) वह भूमि हमें जीवन और सम्पदा प्रदान करनेवाली हो जिस से सब का पोषण होता है जिसमें विभिन्न प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हैं जो सब जीवों का दृढ़ आधार है जिस में सब प्रकार की सम्पदा छुपी हुई है जो समस्त जगत् को अन्न देती और सब का पालन करती और बुद्धिमानों और श्रेष्ठ पुरुषों का पोषण करती है। (६)

(३) जिस प्रकार माता अपने बच्चे को दूध पिलाती है उसी प्रकार वह भूमि हम सब का पोषण करनेवाली हो। (१०)

(४) हे भूमे! तेरे पर्व और तेरे टीले हमारे लिये मंगलकारी हों। मैं अजेय, अक्षत और अवध्य रहकर समृद्ध, कृषि योग्य, उत्तम, विस्तृत और सुरक्षित भूमि पर निवास करूँ। (११)

७-१ यस्याश्चतस्त्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥ ४॥

२. विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु॥ ६॥

३. सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ १०॥

४. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुंकृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ ११॥

(५) पृथ्वी मेरी माता है। मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। वर्षा मेरा पिता है। वह हमारा पोषण करे। (१२)

(६) जो भूमि को समृद्ध बनाती है वही मुझे समृद्ध बनाए। (१३)

(७) हे भूमि! ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुएँ हमारे लिये सब प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करें। (३६)

(८) वर्षा ऋतु की सहचरी सुसिंचित भूमि को हम आदर पूर्वक नमस्कार करते हैं जिसमें अन्न, धान्य और यव उत्पन्न होते हैं और समस्त प्रजा जिसकी सन्तान है। (४२)

(९) जिसके वक्षस्थल पर बड़े-बड़े नगर बसते हैं और जिस पर कृषकगण खेती करते हैं, जिसके गर्भ में सब प्रकार के पोषक तत्त्व हैं जगत् पिता परमात्मा उस भूमि को हमारे रहने योग्य बनाएँ।

श्रीयुत अविनाशचन्द्र दास अपनी 'ऋग्वेद कालीन भारत' (Rigvedic India) नामक पुस्तक में इस प्रसङ्ग में लिखते हैं, ''यव और धान्य आदिकाल से ही आर्यों की मुख्य खेती रही होगी। यूरोप के विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में आए ये दो शब्द सब प्रकार के खाद्यान्नों के लिए प्रयुक्त होते होंगे। हो सकता है यह स्थापना कुछ अंशों में सत्य हो परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वेदकालीन आर्य विशेष प्रकार के अन्नों से अपरिचित थे। विपरीत इसके यह विश्वास किया जा सकता है कि ये दोनों (यव और धान्य) उनकी कृषि की मुख्य उपज थे और इसी पर वे अपना जीवन निर्वाह करते थे। यव (जौ) अब की तरह बसन्तकालीन उपज थी जो शरद् ऋतु

---

५. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ १२॥

६. सानो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना॥ १३॥

७. ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्॥ ३६॥

८. यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्चकृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥ ४२॥

९. यस्याः पुरोदेवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवींविश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥ ४३॥

—अथर्व० १२। १४, ६, १०, ११, १२, ३६, ४२, ४३

में बोई जाती है जिसको बोने के लिये अधिक वर्षा की आवश्यकता नहीं होती इसके लिये शरद्कालीन थोड़ी वर्षा पर्याप्त होती है। परन्तु धान की बुआई के लिए बहुत वर्षा की आवश्यकता होती है और वर्षा के आरम्भ में ही यह बुआई हो जाती है। धान की उत्तम पैदावार के लिए जो आर्यों का एक मुख्य खाद्यान्न था नियमित वर्षा आवश्यक होती थी। इस नियमित वर्षा के निमित्त इन्द्र से प्रार्थना की जाती थी। एवं वार्षिक वा नैमित्तिक यज्ञों और सत्रों का अनुष्ठान किया जाता था।''

यहाँ ऋग्वेदकालीन भारत के लेखक ने इन्द्र की प्रसन्नता के लिए यज्ञों और सत्रों के अनुष्ठान का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में इस समय हम केवल इतना ही कहेंगे कि उनके कथन में उत्तरकालीन पौराणिकता की गन्ध आती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्ष के भिन्न-भिन्न कालों में हमारे यहाँ यज्ञों के किये जाने की परिपाटी बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही है। क्योंकि ये भौतिक दृष्टि से वर्षा के लिये बहुत उपयोगी होते हैं। ऐसे यज्ञ बादलों के निर्माण में परम सहायक होते हैं। बाद के साहित्य में हमें ऐसे बहुत से वर्णन उपलब्ध होते हैं।

अथर्ववेद के उपर्युक्त मन्त्रों में से एक मन्त्र में मनुष्यों को समृद्ध बनानेवाली उर्वरा भूमि का उल्लेख आता है। इससे स्पष्ट होता है कि आर्य कृषकों को अपनी भूमि को उर्वरा बनाने का बड़ा ध्यान रहता था। अथर्ववेद के तीसरे मण्डल में एक पद 'करीषिणीं फलवतीं सुधाभिराम्' आता है। 'करीष' का अर्थ है 'गोबर'। गोबर सर्वोत्तम खाद होता है। अथर्ववेद के एक दूसरे मन्त्र[९] में गोबर का इसी प्रकार का उल्लेख पाया जाता है।

बार-बार की बुआई से भूमि की उर्वरा शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है। अथर्ववेद के एक दूसरे मन्त्र[१०] में वैज्ञानिकों और कृषकों को प्रेरणा की गई है कि उन्हें अपनी भूमि की शक्ति पर

८. Rigvedic Culture अध्याय ७ पृ० २६६-२६७-२६८।

९. **संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणी: बिभ्रती:**
सोम्यं मध्वनमीवा उपतेन ॥ —अथर्व० ३।१४।३

१०. **यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।**
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ —अथर्व० १२।१।७

विशेष ध्यान रखना चाहिये। उनको इस सम्बन्ध में जरा भी असावधानी न करनी चाहिये।

'केवल उसी भूमि में मधुर अन्न उत्पन्न होता है जिसकी विद्वान् लोग सावधानता पूर्वक रक्षा करते हैं। इस प्रकार की भूमि कामधेनु होती है।'

इससे आगे के मन्त्र[११] में में जल के नीचे की भूमि को कृषि योग्य बनाने के विविध उपाय वर्णन किये गये हैं। इस प्रकार की भूमि बड़ी उपजाऊ होती है। इससे राष्ट्र बलवान् बनता है क्योंकि उत्तम कृषि के बिना कोई राष्ट्र बलवान् नहीं बना सकता। 'त्विषिं' (आभा) बलम् (शक्ति, बल) और राष्ट्रम् (बलवान् राष्ट्र) इन सब की उत्पत्ति कृषि से होती है।

दास महोदय द्वारा खेती काटने की विविध प्रक्रियाओं पर निम्न प्रकार प्रकाश डाला गया है—

"खेती पक जाने पर वह हंसिये (स्त्रीनी ऋ० १।५८।४, १०।१०१।३, १०६।६ वा दात्रा ८।७८।१०) द्वारा काटी जाती थी, उसकी पूलियाँ बनाई जाती थीं (परशा ऋ० १०।४८।७) और खलियान (खाला ऋ० १०।४८।७) में छेती जाती थीं। तब छाज (तितऊ ऋ० १०।७।१२) से फटक कर दाना पृथक् किया जाता था।"

यजुर्वेद १२-१३ में हमें अन्नों के निम्नलिखित नाम मिलते हैं—

"धान, जौ, उड़द, तिल, मूँग, चने, प्रियंगु नामक छोटा धान, छोटा चावल, साँवा चावल, नीवार (बिना खेती से उपजनेवाला धान) गेहूँ और मसूर ये समस्त अन्न मुझे यज्ञ, राष्ट्र पालन और कृषि से प्राप्त हों।"

धाना लाजाओं का रूप 'कुवल' अर्थात् कोमल बेर का फल

११. सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रेदधातूत्तमे॥ —अथर्व० १२।१।८

१२. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ —यजु० १८।१२

१३. धानानां रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः।
सक्तूनां रूपं वदरमुपवाकाः करम्भस्य॥ —यजु० १९।२२

है। गोधूम, गेहूँ परिवाप का उत्तम रूप है अर्थात् गेहूँ अन्न कृषि का उत्तम फल है।

सक्तुओं का 'बदर' उत्तम रूप है। करम्भ दही से मिले सक्तू का रूप उपवाक अर्थात् 'यव' है।

यदि तुम इन अन्नों की तुलना वर्तमानकालीन अन्नों के साथ करो तो बिना अत्युक्ति और पक्षपात के यह कहा जा सकता है कि संसार ने इस दिशा में कोई विशेष उन्नति नहीं की है। आध्यात्मिक रूप से तो संसार का बड़ा पतन हुआ है। जिस समाज के पास इतने अधिक अन्न थे, और जिसे इनकी उत्पत्ति और प्रयोग का उत्तमोत्तम ज्ञान प्राप्त था क्या वह असभ्य रहा होगा?

जिस समाज में इन अन्नों को उत्पन्न करनेवाले आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे वह निश्चय ही बड़ा उच्च रहा होगा। आज उन्नत कहे जानेवाले देशों में भी कृषकों को वह सम्मान प्राप्त नहीं है जो उस समाज में प्राप्त था। आज उनकी स्थिति अपेक्षा कृत बड़ी हीन है। आज वे अन्यों की इच्छा और सुख-सुविधा के दास बने हुए हैं। वेदों की ओर चलने का अर्थ यह होगा कि हम कृषक को ऊँचा उठाकर उसे उसी सम्भ्रान्त स्थान पर बिठा देवें जिसका प्रकृति और योग्यता की दृष्टि से वह अधिकारी है।

(९)

पशु

कृषि की चर्चा के तत्काल पश्चात् पशुओं की चर्चा का किया जाना स्वाभाविक ही है। गाय, बैल, घोड़े और गधे मनुष्य के श्रम और उस श्रम के लाभ में भागीदार होते हैं। सामवेद में एक प्रार्थना आती है[१]—

"हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारी गौ, अश्व, श्रमिक और वनस्पतियाँ फलें फूलें।"

वर्तमान आविष्कारों से बने यन्त्रों ने जो अधिक उत्पादक और कम कष्टदायक है पशुओं का स्थान ले लिया है इसलिए पशुओं को अत्यधिक महत्त्व देने के विचार पर कदाचित् हमारे आधुनिक विज्ञानवेत्ता हँसे। परन्तु हमारी वैज्ञानिक सफलताएँ चाहे हम उन पर कितना गर्व क्यों न करें खरा सोना नहीं हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हमने अपने क्षेत्र से बहुसंख्यक चेतन प्राणियों को बहिष्कृत करके उनको विकास के अवसरों से वंचित कर दिया है। उदार दृष्टि से देखा जाय तो हमारा यह जगत् एक वृहत् परिवार है जिसमें मनुष्य की स्थिति केवल एक सदस्य की है यद्यपि वह सब से अधिक गुण सम्पन्न है। पशुओं में आपस में व्यापक भ्रातृत्व होता है। परिवार के बड़े लोगों को बड़ा स्थान इसलिये प्राप्त नहीं होता कि वे सब से अधिक खाते हैं अपितु इसलिये प्राप्त होता है कि वे परिवार के कम विकसित लोगों के विकास में अत्यधिक योग देते हैं। असभ्य लोगों को केवल न मारना वा उनको दास न बनाना और इस प्रकार का आचरण करना जिससे धीरे-धीरे उनका विकास होकर वे सभ्य बन जाएँ जिस प्रकार सभ्य राष्ट्र का कर्त्तव्य होता है उसी प्रकार मनुष्य-समाज का यह कर्त्तव्य होता है कि वे छोटे

---

१. **स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते। शं राजन्नोषधीभ्यः॥**

—सामवेद उत्तरार्चिक अ० १-२

पशुओं के साथ इस प्रकार का व्यवहार करें जिस से वे अपना विकास करने में समर्थ हो सकें। जिस गड़रिये (अजापाल) ने सब से पहले कुत्ते को अपनी भेड़ों की चौकसी करना सिखाया था उसने उस कुत्ते और अपनी जाति के प्रति कम उपकार न किया था। उसने कुत्ते को चौकीदार के पद पर बिठा दिया था। वह बिजली का कोई यन्त्र बनाकर कुत्ते के कार्य को समाप्त करने का उपाय कर सकता था। परन्तु इसका अर्थ होता उस कर्त्तव्य से गिरना जो मनुष्य का विशिष्ट जीव के रूप में छोटे जीवों के प्रति होता है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो पशु-पालन के क्षेत्र में वैदिक युग के मनुष्यों की सफलताएँ प्रशंसनीय थीं।

रेल में प्रतिदिन यात्रा करनेवाले व्यक्ति श्रीयुत वाट और ज्यॉर्ज स्टीफैन्स के आविष्कारों का ठीक-ठीक मूल्य नहीं आँक सकते। हम इन वस्तुओं को प्रतिदिन देखते हैं। आज हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि कभी कोई समाज वाष्प एञ्जिन से अनभिज्ञ रहा होगा। इसी भाँति तनिक अपने को उस स्थिति में रखो जब मनुष्य और घोड़े में, गौ और मनुष्य में किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न था। उस समय मनुष्य भी थे और घोड़े भी थे। परन्तु मनुष्य यह न जानता ता कि घोड़े से क्या और किस प्रकार सहायता ली जाय। घोड़ा नितान्त बनैला था। वह मनुष्य की बात न सुनता था और न चाबुक और लगाम के सामने आत्मसमर्पण करना ही जानता था। वह एक प्रकार से स्वच्छन्द था। वह अपने स्वामी को प्यार करना वा युद्ध के यश में भागीदार बनना भी न जानता था। जिस व्यक्ति ने घोड़े को सबसे पहले पालतू अर्थात् उसे अपने घर में स्थान देकर उसे सम्मिलित जीवन का अङ्ग बनाया था उसने कितना महान् कार्य किया था। ज़रा इस पर तो विचार करो। क्या यह आविष्कार आज कल के आविष्कारों से बढ़िया न था? किसी मज़दूर को किसी कारखाने में काम पर लगाकर तुम न केवल अपना काम चलाते और उसे जीविकोपार्जन में समर्थ ही बनाते हो अपितु तुम इससे भी अधिक उसका उपकार करते हो। तुम उसे ऐसे वातावरण में रखते हो जिससे वह नई-नई बातें सीखकर अपनी बीज शक्तियों को विकसित करके सभ्य बन सके। तीन वर्ष तक काम करने के बाद

किसी कार्यालय से निकला हुआ व्यक्ति वैसा नहीं होता जैसा यह काम पर लगने के दिन होता है। अब वह अपने काम में अधिक निपुण और अनुभवी है और इस प्रकार अधिक सभ्य है। यही बात पालतू पशुओं पर लागू होती है। जब मैं प्रयाग या देहली की गलियों में किसी खुली हुई गाय वा बैल को घूमते हुए देखता हूँ तो उनमें और सुदूर ग्रामों की गायों और बैलों में घोर अन्तर देखकर आश्चर्य चकित रह जाता हूँ। वे अधिक सीधे-साधे, लोगों से अधिक हिले हुये और बहुत कम तंग करनेवाले होते हैं। भीड़ से भरे नगरों में निरन्तर रहने के कारण उन्हें नागरिकता के कर्त्तव्यों का थोड़ा बहुत ज्ञान स्वभावत: हो जाता है। यदि तुम प्रयाग की किसी तंग गली में से किसी गौ के पास से होकर निकलो तो न तो वह मारेगी और न तंग करेगी। वह अपने रास्ते चली जाती है और तुम्हें अपने रास्ते जाने देती है। क्या यह नागरिकता का अनजान में प्राप्त होनेवाला शिक्षण नहीं है?

इस बात का अभी तक ठीक पता नहीं लगा कि वैदिक काल के मनुष्यों ने प्रारम्भ में पशुओं को किस क्रम से पालतू बनाया था? सर्वप्रथम कौन-सा पशु जन-पद में प्रविष्ट हुआ था। यह गौ होगी वा घोड़ा होगा। या दोनों लगभग एक समय में प्रविष्ट हुए होंगे। अधिकांश वेदमन्त्रों में घोड़े और गौ का एक साथ उल्लेख मिलता है। वे दोनों पवित्र माने गये हैं। जब घर का कोई बड़ा व्यक्ति वा पुरोहित ईश्वर से प्रार्थना करता था तो वह न केवल अपने वंश की सुख-समृद्धि और योगक्षेम की ही अपितु अपने घोड़ों और गौओं की मंगल कामना किया करता था। नीचे हम कुछ प्रासंगिक वेदमन्त्रों को उद्धृत करते हैं—

१. हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवत् परमेश्वर! तू हमें सहस्त्रों गवादि पशु, अश्वों और ऐश्वर्यों से युक्त कर।

२. हे हमारे गृहों के स्वामी परमेश्वर! तू हमें गौवों और अश्वों

१. **आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ॥**
—ऋ० मं० १।२९

२. **वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।**
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व॥
—ऋ० ७।५४।२

सहित प्राप्त हो। हम तेरे मित्र भाव से सदा उत्साह बल से युक्त होकर रहें। जिस प्रकार पिता अपने पुत्रों से प्रेम करता है उसी प्रकार तू हम से प्रेम कर।

३. जो ऐश्वर्यवान् और शासन अधिकार से युक्त होकर हमारे सर्वस्वधन राष्ट्र और सुखादि को गौओं और भूमियों, घोड़ों, राष्ट्रवासी विद्वानों और स्वर्णादि धातु और रमणीय साधनों से पूर्ण जीवन धारण करते हैं हे ऐश्वर्यवान्, बलवान् प्रधान नायक पुरुषो! वे विद्वान् पुरुष पशुओं को नाश करनेवाले वीर पुरुषों द्वारा संग्रामों में विजय करें।

४. हमारा यह कोष गौओं, घोड़ों और सम्पदा से परिपूर्ण पत्थरों से दृढ़ बना है इस सम्पत्ति की रक्षा करने की कला में कुशल व्यापारी इसकी भली-भाँति रक्षा करे। हे कुत्ते सदृश लोभ तुम व्यर्थ ही इस शंकास्पद स्थान पर आये हो यहाँ मत आओ।

५. हे प्रभो! तू हमारे पुत्र और पौत्रादि सन्तति पर हिंसा का प्रयोग मत कर। हमारे जीवन पर आघात मत कर। हमारे गौवों और हमारे घोड़ों को मत मार और मत मरने दे।

६. हे मनुष्यो! तुम परमात्मा की शक्ति पर ध्यान दो जो परमात्मा भक्तजनों का, गौओं का, घोड़ों का, वनस्पति जगत् का वनों और समुद्रों का अधिपति है।

---

३. **ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यैः।**
इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः॥

—ऋ० ७।९०।२६

४. **अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टः।**
रक्षन्ति तं षणयो ये सुगोपा रेकुपदमलकमा जगत्य॥

—ऋ० १०।१०८।७

५. **मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।**
वीरान्मा नो रुद्र मा मितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥

—ऋ० १।११४।८

६. **तदस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्याय।**
स गा अविन्दत्सो अविन्ददश्वान्त्स औषधीः सो अपः स वनानि॥

—ऋ० १।१०३।५

७. जो प्रभु गौओं और अश्वों का रक्षक प्रत्येक पवित्र कार्य का नियामक अत्यन्त शक्तिशाली दुष्ट जनों को मिटानेवाला है उस परमेश्वर को हम अपना सखा बनायें।

८. हे प्रभु! जो हमारे घोड़ों, गौओं, अथवा शरीर को नष्ट करना चाहता है वह चोर वह शत्रु अपनी सन्तान सहित नाश को प्राप्त हो जावे।

९. सैकड़ों यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले हे प्रभो! तू हमारे अश्वों और गौओं का निर्माता है तू अपने सुख के लिये सोम रस का पान कर। तू समस्त उपासना करनेवाले यज्ञशील विद्वान् जन की रक्षा करनेवाला है। जो प्रार्थना हम करते हैं उसका तू वस्तुतः अधिकारी है।

१०. हे प्रभो! तू उपासक को प्रचुर मात्रा में अन्न दे जिससे वे तेरे कोष की रक्षा कर सकें। उसको जल, औषधियाँ, वन, अश्व और घोड़े प्रदान कर।

यहाँ हमने इस प्रकार के असंख्य मन्त्रों में से थोड़े से मन्त्रों को उद्धृत किया है जिनमें घोड़ों, गौओं और मनुष्यों की एक साथ मंगल कामना की गई है! और भी ऐसे मन्त्र हैं जिनमें घोड़ों और गौओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। हमारी साधारण गणना के अनुसार हमें वेदों में घोड़े और गौ के विषय में निम्नाङ्कित अङ्क उपलब्ध होते हैं।

---

७. **यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः।**
वीडोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥
—ऋ० १।१०१।४

८. **यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।**
रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च॥
—ऋ० ७।१०४।१०

९. **जनिताश्वानां जनिता गवामसि पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।**
यं ते भागमधारयन् विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः समप्सुजिन्
मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते॥
—ऋ० ४।३६।५

१०. **नू गृणानो गृणते प्रत्न राजन्निषः पिन्व वसुदेयाय पूर्वीः।**
अप ओषधीरविषा वनानि गा अर्वतो नॄनृचसे रिरीहि॥
—ऋ० ६।३९।५

"ऋग्वेद में ७२३, यजुर्वेद में ९७, सामवेद में १८० और अथर्ववेद में ३३१ कुल १३३१ स्थलों पर 'गो' शब्द का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में ४०९, यजुर्वेद में ६५, सामवेद में ४० और अथर्ववेद में ८२ स्थलों पर 'अश्व' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन दोनों शब्दों का गौ और घोड़े के लिये बहुत प्रयोग होता है। यह ठीक है कि इन शब्दों के अर्थ इनसे भिन्न भी हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों का मुख्य अर्थ 'गौ' और 'घोड़ा' ही है। इसके अतिरिक्त 'गौ' के लिए निश्चित रूप से 'अघ्न्या' न मारे जाने योग्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में २०, यजुर्वेद में ५ सामवेद में २ और अथर्ववेद में ३३ स्थलों पर मुझे यह शब्द मिला है। गौ के लिये 'धेनु' शब्द भी आता है जिसका अर्थ है 'तृप्त करनेवाली', ऋग्वेद में ७६, यजुर्वेद में २२, सामवेद में २५ और अथर्ववेद में ४३ स्थलों पर 'धेनु' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में १०७, यजुर्वेद में २५, सामवेद में १६ और अथर्ववेद में घोड़े के लिए एक और शब्द 'अर्वा' का उल्लेख हुआ है। मैं एक बार पुनः स्पष्ट किये देता हूँ कि मेरी यह गणना नितान्त प्रामाणिक नहीं है।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि हिन्दुओं को गौ और सेमेटिक जाति के लोगों को घोड़ा प्रिय था। यह मत बड़ा दुर्भावपूर्ण है। वेदों से इसका समर्थन नहीं होता। उपर्युक्त आँकड़े इस बात के प्रमाण हैं कि वेदों में इन दोनों पशुओं का समान रूप से ध्यान रखा गया है और दोनों ही के मंगल की कामना की गई है। ये दोनों घरेलू पशु थे। इनके स्वामी बड़े ध्यान से इनका पालन करते, उन्हें प्यार करते और रोगों से उनकी रक्षा करते थे। रथ के प्रसङ्ग में वेदों में हमें कई स्थलों पर 'हरी' शब्द मिलता है जिससे स्पष्ट है कि गाड़ियों में साधारणतः दो घोड़े जुतते थे। आरम्भिक वैदिक युग में इन रथों का आकार प्रकार किस प्रकार का था यह अज्ञात है। आज कल भारत वर्ष में बैलों से खिंचनेवाले मठ के आकार के ऊपर छतरीवाले रथ देख पड़ते हैं। चित्रकारों और कलाकारों ने भी चित्रों में इसी प्रकार के रथों का चित्रण किया है। परन्तु ये रथ युद्ध के काम के न होते थे। मनुष्य के लिये घोड़े की अपेक्षा गौ की उपयोगिता अधिक होती है। वह बच्चों को दूध पिलाती है। घर पर

रहती है। प्रसिद्ध कोषकार यास्क ने दुहिता शब्द का अर्थ पुत्री इसीलिये किया है कि वह गौओं को दुहती है। इससे स्पष्ट है कि कन्यायें घर पर गौओं को दुहा करती थीं और परिवार का पुरुष वर्ग घोड़ों की अधिक देख-भाल किया करता था। यदि परिवार के लोग इतने उपयोगी पशु को प्यार करते और उसकी महत्ता को कृतज्ञ भाव में स्वीकार करते थे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

गौ आर्य परिवार की लक्ष्मी होती है। गृह स्वामिनी भोजन के समय प्रथम ग्रास (रोटी) उसके लिये निकालती है। माङ्गलिक अवसरों पर सम्मानित अतिथि की भाँति उसको माला पहनाई जाती और उसका सत्कार किया जाता है। इस प्रसङ्ग में एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। विविध ग्रन्थकारों ने समय-समय पर गोमांस और अश्वमांस भक्षण के प्रश्न पर विचार किया है। वर्तमान हिन्दू जनता इन दोनों प्रथाओं को घृणा की दृष्टि से देखती है। ऐसा करना कहाँ तक युक्ति-युक्त है यह भी एक प्रश्न है। श्री अविनाशचन्द्र अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक ऋग्वैदिक इण्डिया में लिखते हैं—

"यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि यद्यपि बैलों की बलि चढ़ाई जाती थी और उनका मांस पकाकर देवता के अर्पण किया जाता था तथापि याज्ञिकों वा आर्यों द्वारा वह खाया न जाता था परन्तु ऋग्वेद ६।३९।१ में भारद्वाज ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें और यजमानों को मुख्य पदार्थ के रूप में गोमांस देवें।" (पृ० ७५)

मुझे आश्चर्य है कि विद्वान् लेखक ने इस मन्त्र को क्यों उद्धृत किया है। इस वेदमन्त्र के किसी अंश से भी गोमांस के उल्लेख की पुष्टि नहीं होती। ग्रन्थकार महोदय अपनी स्थापना की अप्रामाणिकता को अनुभव किये बिना न रह सके क्योंकि उपर्युक्त वाक्य के ठीक नीचे निम्नलिखित वाक्यांश उद्धृत किया गया है—

"निस्सन्देह इसका अभिप्राय यह लिया जा सकता है कि 'गौ' शब्द से गोमांस अभिप्रेत नहीं है अपितु दूध, मक्खन, दही और घी आदि अभिप्रेत हैं।" यह व्याख्या भी सम्भव हो सकती है परन्तु प्रो० विल्सन के मतानुसार "वेद में उसकी शाब्दिक व्याख्या की विरोधी कोई बात नहीं है।" (पृ० ७५-७६)

बाद के कतिपय ग्रन्थों में गोमांस भक्षण का उल्लेख पाया जाता है। यह एक तथ्य है। परन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि वैदिक काल के आर्य गोमांस भक्षण के समर्थक थे। वेदों में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। गाय को 'अघ्न्या' कहा गया है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में एक प्रार्थना आती है कि हमारी गौवें (अनमीवा अयक्ष्मा) रोग रहित हों और परमात्मा यजमान के पशुओं की रक्षा करें। 'यज्ञ' शब्द का 'हत्या' से कोई सम्बन्ध नहीं है। यज्ञ का अर्थ है शुभ कर्म (श्रेष्ठतमाय कर्मणे) 'यज्ञ' यजमान वा ऋत्विज् के उल्लेख से पशुबलि की कल्पना कर लेना भयंकर भूल है। यह दुर्भाग्य की बात है कि बाद के विकृत कालों में यज्ञ के कतिपय गर्हित अनुष्ठानों के कारण यज्ञ और यजमान का रूप विकृत होकर उनका अर्थ पशुबलि माना जाने लगा। वस्तुतः यज्ञ का अर्थ शुभ कर्म और यजमान का अर्थ शुभ कर्मों का कर्त्ता है। संस्कृत में पितृयज्ञ और 'अतिथि यज्ञ' का विधान है। स्पष्टतः इन शब्दों से यज्ञ का अर्थ माता, पिता और अतिथि का वध नहीं निकाला जा सकता। इस प्रसङ्ग में हम उलझन पैदा करनेवाले एक और शब्द का उल्लेख कर सकते हैं। वह है 'गोघ्न'। इसका धात्वर्थ है गौओं का वध करनेवाला। परन्तु बाद में यह उन अतिथियों के लिए प्रयुक्त होने लगा था जिनके लिये गौयें वध्य मानी जाने लगी थीं। यह सत्य है कि हिन्दू इतिहास के कुछ कालों में यह भावना प्रचलित थी। इससे इन्कार करने से कोई लाभ नहीं परन्तु अकेले ऋग्वेद में ही यह शब्द एक बार प्रयुक्त हुआ है अन्य वेदों में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

इसमें दो शब्द 'गोघ्नमुत पूरुषघ्न' आते हैं जिनका ग्रिफिथ महोदय ने निम्न प्रकार अनुवाद किया है—

"हे वीर पुरुषों को अपने आश्रय में बसाने हारे! पशुओं और मनुष्यों के हत्यारों को दूर रख! इस प्रकार हमको सुख प्राप्त हो! हे देव! तू हमें सुखी कर।"

यहाँ गोघ्न का अर्थ गौओं का हत्यारा है। वह 'पुरुषघ्न' अर्थात् मनुष्यों के हत्यारे के साथ रखा गया है और परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह सुख शान्ति का नाश करनेवाले इन दोनों को प्रजा से दूर रक्खे। क्या यह गोमाँस भक्षण की अनुमति है? यह तो

गोवध का स्पष्ट निषेध है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि वेदों में अन्य किसी स्थल पर 'गोघ्न' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। अतिथि की भावना जिस के लिए गोवध विहित माना गया है, बाद के काल का सम्मिश्रण है। सम्भवतः वेद में इस शब्द का समावेश गोमाँस भक्षियों द्वारा हुआ है। भारत एक विशाल देश है जिस में बुरे-भले, धार्मिक-अधार्मिक वेद को माननेवाले और न माननेवाले प्रत्येक प्रकार के लोग निवास करते हैं। इसके इतिहास में हजारों लाखों वर्षों तक इतना अधिक परिवर्तन हुआ है कि जो बात प्रत्यक्षतः वेदों में नहीं पाई जाती उसके लिए वेदों को दोषी ठहराना नितान्त अनुचित और अन्यायपूर्ण होगा। आजकल भारतवर्ष में बहुत से गोभक्षी वर्ग पाए जाते हैं परन्तु वे वेदानुयायी नहीं हैं। यदि इन दिनों कोई संस्कृत ग्रन्थ लिखा जाय तो उसमें स्वभावतः गोवध, गोमांस भक्षण और गोमांस पाक का उल्लेख होगा। इस समय भी यज्ञों में गोमांस चढ़ाने का बीभत्स कर्म करनेवाले हिन्दू विद्यमान है यद्यपि उनकी संख्या अंगुलियों पर गिने जाने योग्य हैं। वैदिक ऋषियों एवं वैदिक आदर्शों का वृहद् इतिहास और उनकी परम्पराएँ इस बात की साक्षी है, कि मांस के कारण नहीं वरन् माता के समान अपने दूध से प्रजा का पोषण करने के कारण गऊ की पूजा होती थी। गौ के पाँच अंगों का जिन्हें पञ्चगव्य कहते हैं हमारे यहाँ विशेष महत्त्व रहा है। वे हैं दूध, दही, घी या मक्खन, गोमूत्र और गोबर (क्षीरं दधि तथा चाज्यं मूत्रं गोमयमेव च) इनमें गोमांस सम्मिलित नहीं है। वेदों में अनेक स्थलों पर 'गो' शब्द का अर्थ उपर्युक्त, पाँच पदार्थ किया गया है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि वेदों के भाष्यकारों ने अपने निजी विचारों और मान्यताओं का वेद में समावेश कर दिया है। उन्होंने वस्तुओं को वर्तमान काल के लोगों की आँखों से देखा इसलिए गड़बड़ उत्पन्न हो गई है। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण (१११।४।१।१७) में 'अश्बाल' नामक औषधि का उल्लेख आता है। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ घोड़े का बाल है परन्तु वास्तव में इसका पशु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें और घोड़े के बाल में सादृश्य होने के कारण ही इसका नाम अश्व बाल पड़ा होगा। इसी प्रकार अंग्रेजी 'काऊज़ लिप्स' Cow's Lips (गौ ओष्ठ) नाम

का पीले रङ्ग का एक सुगन्धित पुष्प होता है। यह गौ का कोई अंग नहीं होता परन्तु इसमें और गौ ओष्ठ में सादृश्य होगा इसलिए इसका नाम गौ ओष्ठ पड़ा है। यदि एक सौ वर्ष के पश्चात् लोग इस वास्तविकता को भूल जाएँ और इसके अर्थ गौ वा घोड़े का अङ्ग करने वा मानने लग जाएँ तो क्या यह एक बड़ी भयंकर भूल न होगी इसलिए उलझनों से बचने के लिए हमें बड़ी सावधानता से शब्दों की व्याख्या करनी चाहिए।

यहाँ हम प्रतिपाद्य विषय से कुछ दूर चले गये हैं इसके लिए पाठकगण हमें क्षमा करें। इस प्रश्न के अनेक बार उठने के कारण इस पर प्रकाश डालने के लोभ का हम संवरण न कर सके थे। कहीं-कहीं क्लिष्ट निर्देशों के आ जाने से व्याख्या कठिन हो जाती है परन्तु समस्त वैदिक साहित्य की प्रवृत्ति रक्तपात से सम्बन्ध रखनेवाली प्रक्रियाओं का खण्डन करनेवाली है। साधारणतः पशुओं का प्रजा के साथ सम्बन्ध होता है और आर्य परिवारों में निरन्तर इन दोनों की मंगल कामना की जाती है। आर्य गृहों के लिये पशुओं की केवल आर्थिक महत्ता नहीं होती। आर्यों का साम्यवाद घर, सम्प्रदाय, देश वा राष्ट्र की सीमाओं से ऊपर होता है। इसीलिए वेद कहता है 'मैं समस्त चेतन प्राणियों को मित्र दृष्टि से देखूँ।' 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।' (यजु० ३६।१८)

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Idea of Progress' की भूमिका में श्रीयुत जे० बी० बूरी (J. B. Bury) लिखते हैं—

"जब आइसोक्रेट्स ने 'अन्यों' के साथ वैसा वर्त्ताव करो जैसा तुम अपने प्रति कराना चाहते हो" व्यवहार का यह नियम बनाया था तो कदाचित् 'अन्यों' में दासों और असभ्यों को सम्मिलित करने का उसका अभिप्राय न था। बाद में स्टोईसिज्म[१] वालों और ईसाइयों

१. जीवन व्यवहारवाद, दर्शन शास्त्र विशेष जिसका प्रवर्त्तक झेनो ईस्वी सन् पूर्व ३४०-२५६) दार्शनिक हुआ। यह एक व्यावहारिक सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य जीवन के व्यावहारिक नियमों की खोज करना है। इस मत का विशेष मन्तव्य प्रकृति के नियमानुसार रहना है। प्राकृतिक जीवन ही सर्वोच्च सुख का दाता है। जब आत्मा मनोविकारों से स्वतन्त्र हो जाता है तब वह सर्वोच्च सुख को प्राप्त होता है। दुःख सुख में समानता इस वाद का मुख्यतम सिद्धान्त है।

ने यह नियम समस्त चेतन जगत् पर लागू कर दिया'' परन्तु वेदकालीन आर्यों ने इन दोनों से बहुत पूर्व पशुओं और अन्य चेतन प्राणियों को 'अन्यों' में सम्मिलित करके उनको प्रकृति की अनुकूलता के अनुरूप घर और समाज की सुख समृद्धि का भागीदार बनाकर उसकी सहायता की थी। क्या वेदों की ओर चलने से वास्तविक उन्नति न होगी?

अब यह देखना है कि वेदों में और कौन से पशुओं का उल्लेख है? इसमें सन्देह नहीं कि वेदों में गौ और अश्व प्रमुख स्थान रखते हैं। परन्तु उनमें और भी बहुत से पशुओं की चर्चा पाई जाती है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद (२०।१२७।२) में रथ में जुते हुए बीस ऊँटों का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में हमें ऊँटों का ५ स्थानों पर उल्लेख मिलता है। ऊँट को संस्कृत में 'उष्ट्र' फारसी में 'शुतुर' और हिन्दी में ऊँट कहते हैं। वेदों में 'क्रमेल' शब्द नहीं पाया जाता जो अंग्रेजी के 'केमिल' से मिलता जुलता है। ऋग्वेद ८।४६।३१ में बैलों के साथ-साथ सैकड़ों ऊँटों का उल्लेख मिलता है। ८।४६।२२ में दो हज़ार ऊँटों का ८।५।३७ में घोड़ों और गौओं के साथ ऊँटों का वर्णन उपलब्ध होता है।

वेदों के अनुसार 'ग्राम्य' और 'आरण्य' इन दो श्रेणियों में पशु विभक्त हैं। ग्राम्य पशुओं की बड़े ध्यान और प्रेम से रक्षा होनी चाहिए और आरण्य पशु यदि हानिकारक हों तो उनको नष्ट कर देना चाहिए अथवा उनको दूर रखना चाहिए। घरेलू पशुओं में केवल कुत्ता ही मांस-भक्षी होता है। वैदिक आर्य प्रत्येक प्रकार के जीवन का आदर करनेवाले थे। इस नियम का उल्लंघन उसी समय होता था जब कोई प्राणी दूसरे प्राणी के साथ अन्याय करता और उसके जीवन को संकट में डाल देता था। तुम उनको मार सकते हो परन्तु अन्यों को मारे जाने से बचाने के लिए स्वयं जिओ और दूसरों को जीने दो। जब तक तुम दूसरों को जीने देते हो तब तक यदि तुम्हें कोई व्यक्ति सताता है तो वह तुम्हारे साथ अन्याय करता है। यही अहिंसा है जिसका प्रायः अंग्रेजी में नान वायलैन्स (Non-Voilence अनुवाद किया जाता है। यह अहिंसा विश्व-बन्धुत्व की भावना पर आश्रित विश्व-प्रेम से ओत-प्रोत होती है। सभ्यता के

विकास में पशुओं के योग की प्रायः अवहेलना की जाती है और इनको कम से कम महत्त्व दिया जाता है। आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप की अशुद्ध भावना के कारण ही ऐसा होता है। जिस व्यक्ति को सब प्राणियों में परमात्मा के और परमात्मा में सब प्राणियों के दर्शन होते हैं उसे दुःख प्राप्त नहीं होता। (यजुर्वेद ११।६) जब तक इस वैदिक शिक्षा पर आचरण नहीं होता तब तक संस्कृति की विभावना संकुचित बनी रहती है। पशु-हत्या से मनुष्य में हिंसक वृत्ति जागृत होकर उसकी पाशविक प्रवृत्तियाँ उच्छृङ्खल हो जाया करती हैं। स्मरण रखना चाहिए कि हमारा आचरण सूक्ष्म तन्तुओं से बनी हुई रस्सी के समान होता है जिस पर यदि उचित ध्यान न रखा जाय तो वह क्षणभर में ही टूट जाती है।

(१०)

उद्योग-धन्धे और कला-कौशल

संस्कृति के भौतिक विकास में उद्योग-धन्धे कृषि के अनिवार्य सहायक एवं पूरक अङ्ग होते हैं। किसान द्वारा उत्पन्न अन्न को मनुष्य-समाज के लिए उपयोगी बनाने के लिए उसे नाना रूपों में परिवर्तित करना होता है। इसके अतिरिक्त खेती के लिए विविध-प्रकार के उपकरणों (औज़ारों) की आवश्यकता होती है जिनका निर्माण केवल उद्योग-धन्धों से सम्भव होता है। अन्न यों ही अपने आप तो पैदा नहीं हो जाता। इसके लिए मानवीय बुद्धि और प्रयत्न को कार्य में लाने की आवश्यकता हुआ करती है। आओ देखें इस विषय में वेद का क्या मत है?

''उस व्यापक परमेश्वर के सृष्टि आदि कार्यों को देखो जिसकी कृपा से जीव अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता है। वह परमेश्वर जीव का सर्वत्र साथ देनेवाला मित्र है।''

यह है मनुष्य को परमात्मा के साथ ग्रथित करने का रहस्य। परमात्मा महान् स्रष्टा है। परमात्मा सदृश बनने के लिए मनुष्य को भी स्रष्टा बनना चाहिए। सृजनात्मकता मानव का सर्वोच्च गुण होता है और उद्योग-धन्धे उसके इसी गुण पर आश्रित होते हैं। निष्क्रिय रूप से प्रकृति पर निर्भर रहना तो केवल पशुओं का ही लक्षण होता है। प्रकृति से उन्हें जो भोजन मिल जाता है वे उसी पर सन्तोष कर लेते हैं। वे प्राकृतिक शक्तियों से बने हुए छिद्रों में ही निवास कर लेते हैं। उनके शरीर पर जो कुछ उगता है वे उसी से अपना तन भी ढक लेते हैं। अपने कष्टों के निवारण और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे स्वतः कुछ नहीं करते। अवश्य उनमें से कुछ यथा मकड़ी, मधुमक्खी और चिऊँटी आदि अपनी स्थिति को ऊँचा

---

१. **विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥**

—ऋ० १।२२।१९

करने के लिए प्रयत्न करते हैं परन्तु उनका यह प्रयत्न स्थिर प्रकार का होता है। शहद का छत्ता कितनी ही उत्तम रीति से बना हुआ जटिल और सूक्ष्म क्यों न हो उसमें वह वृद्धि-क्रम नहीं होता, जो मनुष्य जाति की मुख्य विशेषता होती है। मनुष्य में जितनी अधिक सृजना शक्ति होगी उतनी ही अधिक उसमें और परमात्मा में समानरूपता होगी। ऊपर जिस वेदमन्त्र का उल्लेख किया गया है उसमें मनुष्य को प्रेरणा की गई है कि वह सर्वोच्च गुरु परमात्मा का सच्चा क्रियाशील शिष्य बने।

इसलिए उद्योग-धन्धे किसी प्रकार से भी हेय नहीं हैं। आत्मा के उन आभ्यन्तरिक गुणों का विकास किए बिना जिन से रहित मनुष्य अपने को आध्यात्मिक नहीं कह सकता कोई देश वा जाति औद्योगिक उन्नति नहीं कर सकती। जो मनुष्य ईश्वरीय कृतियों पर निर्भर रहता और अपना योग नहीं देता वह परमात्मा के स्वरूप को पहचानने में असमर्थ रहता है। इसीलिए वह एक प्रकार से ईश्वरीय विभूतियों से शून्य रहता है। मनुष्य की सृजना हाथ पर हाथ धरे बैठे वा अकर्मण्य बने रहने के लिए तो नहीं हुई है। प्रकृति ने मनुष्य को जिस उत्कृष्ट ज्ञान से विभूषित किया है वह निष्प्रयोजन बने रहने के लिए नहीं है। परमात्मा मनुष्य को अपने उदाहरण से शिक्षा देता है। वह कहता है ''जैसा मैं करता हूँ तुम भी वैसा ही करो'' ऋग्वेद में एक प्रार्थना आती है—''हे प्रभो! मेरी बुद्धि को लोहे से बने शस्त्र की धार के समान अति तीक्ष्ण बना''[२] बुद्धि किस प्रकार तीक्ष्ण हो सकती है? परमात्मा की सृष्टि की सराहना करते रहने से नहीं प्रत्युत तत्परतापूर्वक उसका अनुकरण करते रहने से बुद्धि तीक्ष्ण हुआ करती है। प्रकृति का अनुकरण करो इस वाक्य का जितना अशुद्ध अर्थ और प्रयोग हुआ है उतना कदाचित् किसी अन्य का न हुआ हो। मनुष्य को नंगा रहने, कच्चा (बिना पका) अन्न खाने और गुफ़ाओं में रहने की प्रेरणा की जाती है। प्रकृति का अनुकरण इस प्रकार नहीं किया जाता। उसके नियमों पर चलना, उसके उद्देश्य को समझना। उसने हमारे लिए जो स्थान नियत किया है उसको अनुभव करना और उसकी कृतियों की सच्ची प्रतिलिपि

२. **चोदय धियमयसो न धाराम्॥** —ऋ० ६।४७।१०

प्रस्तुत करने में समर्थ होना यही प्रकृति के अनुकरण करने की रीति है और उद्योग-धन्धों और कला-कौशल के द्वारा ही अनुकरण मूर्त्त रूप धारण करता है। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के दूसरे मन्त्र[3] में हम पढ़ते हैं। "हम सौ वर्ष पर्यन्त कर्म करते हुए जीने की इच्छा करें।" वे कर्म किस प्रकार के होने चाहिएँ? स्वतः उत्पन्न होनेवाले फलों को खाना और पत्तों से अपने शरीर को ढकना तो कर्म नहीं कहलाता। जो विद्यार्थी अपने अध्यापक की कृतियों का तो गुणगान करे परन्तु अपनी कोई कृति प्रस्तुत न करे तो वह अच्छा विद्यार्थी न समझा जाएगा। इसी भाँति निठल्ला बैठा हुआ परमात्मा का दिन-रात गुणगान करनेवाला भक्त बुरा समझा जाएगा। निस्सन्देह वैदिक काल के आर्य भी परमात्मा का गुणानुवाद किया करते थे परन्तु ऐसा करते हुए वे अपनी सृजनात्मक शक्ति के विकास में संलग्न रहते थे। उनकी प्रार्थना हार्दिक, बुद्धिसंगत और संक्षिप्त हुआ करती थी। धार्मिक जगत् में सिद्धजनत्व और निष्क्रियता (निठल्लापन) समानार्थक बन गए हैं। हिन्दी में कहावत[4] है कि "साँप किसी की नौकरी नहीं करता और पक्षी कोई काम नहीं करता। मलूकदास कहते हैं कि परमात्मा सब को खिलाता है।"

इसमें सन्देह नहीं कि परमात्मा सब को खिलाता है परन्तु विकास का अर्थ है कठोर परिश्रम! जो परिश्रम नहीं करता वह अविकसित और असभ्य रह जाता है। अतएव कठोर परिश्रम उद्योग-धन्धों का मूलमन्त्र है।

परन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि अकेले उद्योग-धन्धों से ही काम नहीं चलता। विश्व में नाना प्रकार के असंख्य प्राणी हैं। हम विकास की विभिन्न स्थितियों में होते हैं जिसका अभिप्राय है कि हमारी शक्तियाँ, हमारी प्रवृत्तियाँ, हमारी रुचियाँ, और हमारी आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। समाज के साथ हमारे सम्बन्ध भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। ये विभिन्नताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवसायों के विकास का कारण होती और समष्टि रूप

---

३. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥** —यजु० ४०।२

४. **अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।**
दास मलूका कह गए सब के दाता राम॥

से मनुष्य-समाज के हित में योग देती हैं। ऋग्वेद के ९वें[५] मण्डल के ११२वें सूक्त के ४ मन्त्रों में इसका बड़ा उत्तम वर्णन किया गया है—

(१) हमारे कर्म और बुद्धियाँ नाना प्रकार की हैं! मनुष्य के कर्म भी विविध प्रकार के हैं। बढ़ई लकड़ी काटना चाहता है। वैद्य रोगी को चाहता है। वेद का विद्वान् यज्ञ करनेवाले को चाहता है। उसी प्रकार हे ऐश्वर्यवन्! तू ऐश्वर्यवान् पद के लिये आगे बढ़। प्रजा पर ऐश्वर्य की वर्षा कर।

(२) जिस प्रकार जीर्ण होनेवाली परिपक्व औषधियों सरकण्डे आदि से पक्षियों के पंखों से और तीक्ष्ण करनेवाले शिलाखण्डों से नाना बाण बनानेवाला क्रिया कुशल शिल्पी किसी धन-सम्पन्न को प्राप्त करना चाहता है उसी प्रकार हे ऐश्वर्यवन्! सैनापत्य के लिये आगे बढ़।

(३) मैं उत्तम स्तुतियों का करनेवाला, उत्तम शिल्पों का सम्पादन करनेवाला हूँ। मेरा पुत्र वा पिता रोगों की चिकित्सा करनेवाला है और माता व बहिन शिलबट्टों पर जौ पीसकर सत्तू आदि बनानेवाली है। हम लोग धन की इच्छा करते हुए नानामति और कर्मोंवाले होकर गोपालक के प्रति गौओं के सदृश तेरी ही आज्ञानुसार नाना कार्य करते हैं। हे ऐश्वर्यवन्! तू हमारे ऐश्वर्य के देने अन्न जल प्रदान करने के लिये मेघवत् सुख की वृष्टि कर।

(४) भार उठानेवाला अश्व वा बैल उत्तम बैठने योग्य सुख से चलने योग्य रथ वा गाड़ी को चाहता है। समीप के सलाहकारी मित्र लोग परस्पर उपहास विनोद चाहते हैं, पुरुष का कामांग युवति के अंग की अपेक्षा करता है। हे ऐश्वर्यवन्! तू उसी प्रकार ऐश्वर्यवान्

५-(१) नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानास।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्त्रव॥ १॥

(२) जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिःशकुनानाम्।
कार्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्त्रव॥ २॥

(३) कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमेन्द्रा येन्दो परिस्त्रव॥ ३॥

(४) अश्वो वोडहा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन् मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्त्रव॥ ४॥

पद की ओर गमन कर और उसे प्राप्त कर।

सबसे पहली बात जिस की ओर इन मन्त्रों में सङ्केत किया गया है वह रुचियों और शक्तियों की विभिन्नता है जो एक परिवार के सदस्यों तक में पापी जाती है। परिवार के सदस्य विभिन्न प्रकार के धन्धों के द्वारा परिवार की श्रीवृद्धि करते हैं। दूसरी बात यह है कि इनमें निम्नलिखित व्यवसायों का प्रत्यक्ष उल्लेख किया गया है—

तक्षा	=	बढ़ई
भिषक	=	वैद्य
कार्मार	=	लुहार
कारुः	=	शिल्पी
उपल प्रक्षिणी	=	अन्न पीसनेवाली
रथः	=	रथ

मनुष्य की सर्वप्रथम आवश्यकता कदाचित् जल पात्र है। उसे नदियों और तालाबों में जल प्राप्त हो सकता है परन्तु वह अपने हाथ वा मुख में पानी नहीं ला सकता। वेद में हमें निम्नलिखित वस्तुओं का उल्लेख मिलता है—

(१) द्रोण=एक विशेष प्रकार के वृक्षों के पत्तों से बना हुआ प्याला। इस समय भी हमारे देश में दौनों का प्रचलन है। यदि तुम किसी हलवाई की दूकान से मिष्टान्न क्रय करो तो वह पत्तों के दौने में देगा जो प्रयोग के पश्चात् फेंका जा सकता है। आज कल भारत के कुछ लोगों में कागज़ ने दौने का स्थान ले लिया है। परन्तु कागज़ के निर्माण में प्रयुक्त होनेवाली सामग्री को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि दौना अधिक स्वास्थ्यप्रद है।

—ऋ० ९।६५।६

(२) कलश और कुम्भ मिट्टी वा किसी धातु से बने हुए पात्र।

—ऋ० १।११७, १२।३।३२, १५।९।९३, २।१।१९१, १४। १०।८९।७

६-(१) **यदद्भिः परिषिच्यसे मृज्यमानो गभस्त्योः। द्रुणा सधस्थमश्नुषे॥**

—ऋ० ९।६५।६

(२) **साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः।**
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी॥

—ऋ० ९।९३।१

लकड़ी से लेकर स्वर्णपर्यन्त पात्रों के उल्लेख से स्पष्ट है कि वेद में समाज के समस्त स्वरूपों पर विचार किया गया है। पत्ते वृक्षों पर लटके देख पड़ते हैं परन्तु सोना न जल की सतह पर, न वायु में और न पृथ्वी पर तैरता हुआ दिखाई देता है। कच्चे स्वर्ण का पता लगाने, उसको साफ करने और सुघड़ पात्र के रूप में परिवर्तित करने के लिए कई प्रकार की औद्यौगिक प्रक्रियाओं की आवश्यकता हुआ करती है। यजुर्वेद में सुनहरे ढक्कन का उल्लेख मिलता है (हिरण्यमयेन पात्रेण ११।१७)। इस से स्पष्ट है कि वेद में समृद्ध और विकसित समाज की कल्पना की गई है।

हमारा ध्यान पात्रों की ओर से हटकर स्वभावत: जल के कृत्रिम कुण्डों यथा कुओं, तड़ागों और नहरों की ओर जाता है। अपने उद्योग-धन्धों का काम प्राकृतिक साधनों से चलाने मात्र के लिये आर्य जन प्रकृति पर निर्भर रहते हैं। परन्तु उनकी यह निर्भरता पशुओं जैसी निष्क्रिय नहीं होती। वे सदैव अपना योग भी देते हैं। इस प्रसङ्ग में निम्नाङ्कित अवतरण उपयोगी होंगे—

(१) कूप्यं वा कुआं (ऋ० १।१०५।१७; अथर्व० ५।३१।८)

(२) अवत=कुआं (ऋ० १।८५।१०; अथर्व० २०।८८।३)

इन अवतो पर रस्सी और पानी खींचने के पात्र रखे जाते थे। इन कुओं अथवा जल के अन्य कृत्रिम स्रोतों का प्रयोग पानी

---

(१) **हिरण्यस्य कलशं**=स्वर्ण का कलश। —ऋ० १।११७।१२

(२) **आपूर्णो...कलश:**=जल से पूर्ण कलश। —ऋ० ३।३२।१५

(३) **उदकं कुम्भिनीरिव**=स्त्रियों द्वारा ले जाए जानेवाले जल के घड़े। —ऋ० १।१९१।१४

(४) **बिभेद...कुम्भम्**=घड़े की नाईं टूटा। —ऋ० १०।९९।७

(५) **द्रुण..........॥** —ऋ० ९।६५।६

(६) **द्रोणं ननक्षे**=लकड़ी के बर्त्तन में रखता है। —ऋ० ९।९३।१

(७) **कलश उस्त्रियाभि:**=दूध इत्यादि से भरे हुए बर्त्तन। —ऋ० ९।९३।२

७-(१) **अवस्तात् ततो भवतीति अवत: कूप:।** —सायण

(२) **तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वश्चोरान्त्यभितो विरप्शम्।** —अथर्व० २०।८८।३

तेरे लिए पर्वत से प्रवाहित होनेवाले कुएँ खोदे गये थे। जो चहुँ ओर शब्द करते हुए मधुर जलधाराएँ छोड़ते हैं। —ग्रीफिथ

पीने वा गृह सम्बन्धी अन्य कार्यों तक सीमित न था उनसे मुख्य रूप से खेतों की सिंचाईं भी होती थी।

यजुर्वेद (३३।१९) में हमें "अवत" व कुएँ का उल्लेख मिलता है जिस पर जल पिलाने के लिए गौएँ लाई जाती थीं।

अथर्ववेद में पहाड़ों में खोदे हुए अवत का पुनः उल्लेख है। कृषि के अध्याय में हमने ऋग्वेद (४।५७) का संकेत किया है जिसमें "लाङ्गल" वा हल की धार, "वरत्रा" वा उन रस्सियों का जिनसे घोड़े और बैल जोते जाते हैं और "शुनासीरा" वा हल आदि का उल्लेख किया है इससे उस रीति का बोध होता है जिससे कच्चे लोहे को शुद्ध धातु के रूप में परिवर्तित करके उससे विविध प्रकार के उपकरण बनाये जाते हैं।

वेदों में उच्च कोटि की पाक-विद्या का भी उल्लेख मिलता है। वेदों के अनुसार ब्रह्मचारी वा विद्यार्थीगण भोजन के लिये गृहस्थों पर निर्भर रहते हैं और ऋषि जन वनों में त्याग का जीवन व्यतीत करने के कारण कन्दमूल फल खाते हैं।

गृहस्थ को पाक-विद्या में पूर्ण निष्णात होना और उसमें अपनी सौन्दर्य-भावना का उत्तमोत्तम परिचय देना चाहिये।

समस्त अन्न कच्चे नहीं खाये जा सकते। उनको छड़ फटक कर विभिन्न प्रकार का आटा तैयार करना होता है। ऋग्वेद के तीसरे

---

(३) **इष्कृता हावमवतं सुवरत्रँ सुषेचनस। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्॥**

—ऋ०१।१०१।६

सुन्दर जलपान के स्थान से सुसज्जित उत्तम रज्जु (रस्सी) से युक्त उत्तम रीति से सुखपूर्वक सेवन करनेवाले अक्षय जलवाले कूप को प्राप्त कर सिंचाई करूँ।

(४) **प्रीणीताश्वान् हितं जयाथ स्वस्ति वाहं रथमित् कृणुध्वम्।**
द्रोणा हावमवतमश्म चक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणाम्॥

—ऋ०१०।१०१।७

अश्वों को तृप्त रखो। अपना हितकारक अन्न प्राप्त करा सुखपूर्वक दूर तक ले जानेवाले उत्तम अश्व वृषभादि से युक्त रथ को अवस्य बनाओ। हे मनुष्यो! आप लोग मनुष्यों का पालन करनेवाले कवच के समान कोष या आवरण को धारण करनेवाले पत्थर के घेरेवाले दृढ़ चक्र से युक्त काष्ठ के बने जलपान-पात्र से युक्त कूप को प्राप्त कर उससे खेत आदि को सींचो।

मण्डल में विविध प्रकार के अन्नों का वर्णन मिलता है जो खाद्य पदार्थों और हवि के रूप में प्रयुक्त होते थे। उनमें से कुछ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं।

इस सूक्त में (१) [धान्य] वा पके जौ, (२) "करम्भ" दही मिश्रित भुना और पिसा हुआ अन्न। अपूप पुआ, पुरोडाश दिया हुआ अन्न। भारतीय ग्रामों और नगरों में विविध प्रकार के पुए प्रसिद्ध हैं। जिन सामान्य खाद्य पदार्थों का वैदिक साहित्य में उल्लेख है उनका उसी नाम से और उसी रूप में आज हजारों लाखों वर्षों के पश्चात् भी हमारे यहाँ प्रचलन है इस बात से भारतीय परम्परा की चिरकालीनता स्पष्ट होती है।

ऋग्वेद के १०।७१।२[९] में छलनी से शुद्ध हुए "सक्तु" का उल्लेख पाया जाता है। अपूप की तरह सक्तु भी आज हमारे देश में मुख्यतः बिहार और उसके सीमावर्त्ती प्रदेशों में बड़ा लोकप्रिय है और सत्तू कहलाता है। पहले अन्न भूना और बाद में पीसा जाता है। छलनी से भूसा व कूड़ा-करकट दूर किया जाता है। सत्तू में नमक, मिर्च, चीनी और दही चीनी मिलाकर खाया जाता है। जब मनुष्य अपने प्रतिदिन के व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं में अपनी

८-(१) धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥
(२) पुरोडाशं पचत्यं जुषस्वेन्द्रा गुरुस्व च। तुभ्यं हव्यानि सिस्रते॥
(३) पुरोडाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः। वधू युरिव योषणाम्॥
(४) पुरोडाशं सनश्रुत प्रातः सावे जुषस्व नः। इन्द्र क्रतुर्हि ते बृहन्॥
(५) माध्यन्दिनस्य सवनस्य धानाः पुरोडाशमिन्द्र कृष्वेह चारुम्।
प्र यत् स्तोता जरिता तूर्ण्यर्थो वृषायमाण उप गीर्भिरीट्टे॥
(६) तृतीये धानाः सवने पुरुष्टुत पुरोडाशमाहुतं मामहस्व नः
ऋभुमन्तं वाजवन्तं त्वा कवे प्रयस्वन्त उपशिक्षेम धीतिभिः॥
(७) पूषण्वते ते चकृमा करम्भं हरिवते हर्यश्वाय धानाः।
अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः सोम पिब वृत्रहा शूर विद्वान्॥
(८) प्रति धाना भरत तूयमस्मै पुरोडाशं वीरतमाय नृणाम्।
दिवे दिवे सदृशीरिन्द्र तुभ्यं वर्धन्तु त्वा सोम पेयाय धृष्णो॥
—ऋ० १।५२।१-८

९-(९) सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीनिर्हिताधिवाचि॥
—ऋ० १०।७१।२

बुद्धि का प्रयोग करता है तब एक प्रकार के उद्योग-धन्धों से कई प्रकार के उद्योग-धन्धों का जन्म हो जाता है। तुम कच्चा अन्न खाना पसन्द नहीं करते क्योंकि उसका छिलका कड़ा होता है। तुम उसको पीसते हो। इससे आटा पीसने की चक्की का आविष्कार होता है। (ऋग्वेद ९।११२।३) पिसे हुए आटे में भूसी आदि भरी होती है। इसके लिए छलनी की आवश्यकता होती है। खाना बनाने के लिए पात्र चाहियें। यजुर्वेद में हवन यज्ञ के प्रसङ्ग में विविध प्रकार के पात्रों का उल्लेख पाया जाता है—

१. स्रुक्	(यजु० ८।११-१, २१।६३)
२. वायव्य	(यजु० १८।२१)
३. चमसा	,,
४. द्रोण कलश	,,
५. ग्रावाण	,,
६. अधिषवण	,,
७. पूत भृत्	,,
८. आधवनीय	,,

३. से ८ तक के पात्र विविध आकार और प्रकार के होते हैं। स्रुक् का ऋग्वेद में कम-से-कम १४ स्थानों पर उल्लेख मिलता है—(१।८४।१८); (११०।६, १४४।१, ११०।६, १६२।१७, ५।२१।२, ४२।१२, ६।१४४।१, ११०।६, १६२।१७, ५।२१।२, ४२।१२, ६।११।५, ८।२३,२२,६०,२, १०।१७,१३,९१,१५,११८, २,३) स्रुवा का (बड़ा चमचा) ऋग्वेद १।११।२४,१२१,६ और १०।४६।२ में उल्लेख है।

यजुर्वेदज १९।२७ में[१] सत, वायव्य। कुम्भी, द्रोणकलश अम्भृण और स्थाली का प्रयोग मिलता है। ये पात्र भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। आजकल की थाली वेदकालीन स्थाली शब्द ही है जो संस्कृत के 'स्था' धातु से बना है जिसका अर्थ है पकड़ना। लोटे के लिए एक दूसरा शब्द 'ग्रह' है जो ग्रह धातु से बनता है। जिसका अर्थ

१०-१. **वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोण कलशम्।**
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्तालीभिः स्थालीराप्नोति॥

—यजु० १९।२७

भी पकड़ना है। प्रचलित 'पात्र' शब्द का धात्वर्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह 'पा' धातु से बनता है जिसका अर्थ है 'रक्षा करना' पात्र का अर्थ है उसमें रक्खे हुए पदार्थ को गिरने से बचाना।

दूध पिलानेवाली प्रत्येक माता के पास अपने बच्चे के लिये सर्वप्रथम भोजन दूध होता है जो शरीर पुष्ट करनेवाले तत्त्वों से पूर्ण होता है। यही कारण है हमारे जन्म के समय से ही माता के स्तनों में दूध आ जाता है। वेदकालीन आर्यों के मतानुसार दूसरी माता गौ होती है क्योंकि हमारी माताएँ जब दूध पिलाने में असमर्थ हो जाती हैं तब गौ ही अपने दूध से हमारा पोषण करती है। परन्तु उन आर्यों की बुद्धि कच्चे दूध तक सीमित न रही थी। उन्होंने दूध के कई पदार्थ बनाये थे। थोड़ा मथने पर उन्होंने दही, घी और मक्खन निकाला था। घृत दूध का सर्वोत्तम तत्त्व होता है और पौष्टिक भी होता है।

इसी कारण हमारे देश में इसका बड़ा प्रयोग होता है। बहुत-सी मिठाइयाँ केवल घृत से ही तैयार हो सकती हैं। चारों वेदों में घृत का प्रयोग हुआ है। बिना घी के दैनिक हवन संभव नहीं होता। भारत का यह बहुप्रचलित उद्योग-धन्धा है।

वस्तुतः प्रतिदिन के व्यवहार में आनेवाली छोटी वा बड़ी प्रत्येक वस्तु उद्योग-धन्धों से सम्बद्ध होती है। गृह स्वामिनी की सुई से लेकर राजनीतिज्ञ की लेखनी वा बड़ी सेना की मशीनगन तक सब वस्तुएँ उद्योग-धन्धों पर निर्भर होती है। वेदों में कर्मकार और रथकार इत्यादि जो नाम उपलब्ध होते हैं उनसे स्पष्ट है कि वेदों में उद्योग कला कौशल और शिल्प आदि की उपेक्षा नहीं की गई है। ये उनके धर्म का अंग रहे हैं क्योंकि इनसे आत्मा की बीज शक्तियों को उन्नत और विकसित करने का अवसर मिलता है। वेदों में अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी प्रचुर सामग्री मिलेगी। कला कौशल और उद्योग-धन्धों को सर्वप्रथम विकसित करने का श्रेय वेदकालीन आर्यों को मिलेगा और यदि वैदिक साहित्य का सम्यक् अध्ययन किया जाय तो उनमें दक्षता प्राप्त करने का श्रेय भी उन्हीं को मिलेगा।

वस्त्र धारण

भोजन के पश्चात् मनुष्य की सब से बड़ी आवश्यकता कदाचित् वस्त्र धारण करना है। मनुष्य नंगा उत्पन्न हुआ था और अपनी नग्नता को ढकने के लिये कृत्रिम साधनों का आविष्कार करने से पूर्व वह चिरकाल पर्यन्त नंगा रहा होगा। वस्त्र धारण करना सभ्यता का लक्षण होता है। मनुष्य वस्त्रधारी प्राणी कहा जाता है। इस दिशा में वह अन्य प्राणियों से उच्च होता है। आज भी ऐसे जंगली व्यक्ति पाये जाते हैं जो नंगे रहते अथवा पत्तों या फूलों के गुच्छों से अपने शरीर के कुछ अंगों को ढकते हैं। वे असभ्य होते हैं। इससे स्पष्ट है कि वस्त्र धारण करने का सभ्यता के साथ अटूट सम्बन्ध है। इसमें कितना ही विरोधाभास क्यों न दिखाई देता हो परन्तु सभ्य कहे जानेवाले अमेरिका में मनुष्यों का एक समुदाय ऐसा भी है जो 'नग्नतावाद' का पक्षपाती है। उनकी धारणा है कि अपने शरीर को कृत्रिम वस्त्रों से ढकने के कारण मनुष्य बड़ा पतित हो गया है। यह एक किनारे की बात है। वस्त्र धारण करने का सांस्कृतिक महत्त्व होता है। यद्यपि यह सभ्यता का विशुद्ध स्वरूप नहीं होता। पूर्ण नग्न वा अर्द्ध नग्न व्यक्ति सभ्य हो सकता है। इसी प्रकार वस्त्रों से ढका हुआ मनुष्य भी असभ्य हो सकता है। संस्कृति के भीतर एक विशेष भावना काम किया करती है। जिसके चहुँ ओर अन्य समस्त वस्तुएँ घूमा करती हैं।

प्रश्न यह है कि वस्त्र धारण करने की कला का आविष्कार करने की आवश्यकता मनुष्य को क्यों अनुभव हुई? हर्बर्ट स्पेन्सर अपनी पुस्तक शिक्षा (Education) में विचार करते हुए इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यत: वृक्षों के पत्ते और फूलों के गुच्छे धारण करनेवाले ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जिन्हें सर्दी और गर्मी से बचने के लिये वस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती अत: वस्त्र धारण करने

की मूल भावना शृङ्गार-प्रियता से उद्भूत हुई होगी। और ऋतुओं के प्रकोप से बचने के साधन के रूप में वस्त्रों का धारण किया जाना बाद में उत्पन्न हुआ होगा।

हमारे पास ऐसी सामग्री नहीं है जिससे इस प्रकार की मान्यता की पुष्टि होती हो। शृङ्गार-प्रियता की भावना ऋतुओं से रक्षा की भावना से अधिक सूक्ष्म होती है। यदि हमें शारीरिक आवश्यकताओं का अनुभव सर्वप्रथम होता है तो रक्षा की आवश्यकता की भावना पहले और शृङ्गार की बाद में उत्पन्न हुई होगी। भोजन के क्षेत्र में रुचि परिमार्जन बहुत समय बाद हुआ करता है। भूखा मनुष्य सब से पहले मोटे-से-मोटे अन्न से अपना पेट भरना चाहता है विशिष्ट व्यञ्जनों की तो उसे बाद में सूझती है। नितान्त नंगे रहनेवाले असभ्य और जंगली लोगों में पाई जानेवाली शृङ्गार-प्रियता सम्भवत: किसी वस्तु के अवशिष्ट अंश के रूप में शेष रह गई हो। जहाँ तक वस्त्र धारण करने का सम्बन्ध है उनके पूर्वज पूर्ण संस्कृत रहे होंगे। हो सकता है सभ्यता के ह्रास के साथ-साथ उनमें जंगली व्यक्तियों जैसी प्रवृत्ति घर कर गई होगी और उनमें शृङ्गार-प्रियता की छाया मात्र शेष रह गई होगी।

जीवन के समस्त विभागों में सौन्दर्य भावना का स्थान आवश्यकता के बाद रहता है। आवश्यकता की भावना के नष्ट हो जाने पर सौन्दर्य की भावना शृङ्गारिक चिह्न के रूप में अवशिष्ट रह जाती है। जब स्वास्थ्य और जलवायु की दृष्टि से वस्त्रों के धारण करने की आवश्यकता नहीं होती और उल्टे उससे हानि होती है तब भी हम शृङ्गार-प्रिय व्यक्तियों को वस्त्र धारण किये हुए देखते हैं। इसी भाँति लाभ-हानि की पर्वाह किये बिना हम लोगों को केवल फैशन के लिए खाते हुए देखते हैं। इसलिये वस्त्र धारण करने का जितना सम्बन्ध आवश्यकता के साथ हुआ करता है उतना शृङ्गार-प्रियता के साथ नहीं हुआ करता। परमात्मा ने पशु-पक्षियों को नैसर्गिक वस्त्र प्रदान किये हुए हैं। भेड़ को ऊन और बत्तख को चिकनी चमड़ी। मनुष्य के शरीर पर उगनेवाले बालों से रोमकूपों की जितनी रक्षा होती है उतनी स्वयं शरीर से नहीं होती। परन्तु प्रकृति की इस देख पड़नेवाली निष्ठुरता का उज्ज्वल पहलू भी है। इससे मनुष्य में

गति उत्पन्न होती है। मनुष्य प्रत्येक जलवायु में रहनेवाली प्राणी है। भूमण्डल की चारों दिशाएँ उसका निवास स्थान है। उसमें स्वतः एक बड़े मानव परिवार के निर्माण की क्षमता है। उसके लिये आवश्यक है कि वह विश्व भ्रातृत्व के विकास के लिये प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करे और अपने को प्रत्येक प्रकार की जलवायु के अनुकूल बनाए। वायुयान के द्वारा दिल्ली से काश्मीर जानेवाले व्यक्ति को कुछ घण्टों के उपरान्त ही वस्त्र-परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। सभ्यता के क्षेत्र में वस्त्रों की व्यावहारिक उपादेयता का यही कारण है। इसलिए 'नग्नतावाद' सभ्यता विरोधी है। सभ्य व्यक्ति को सामाजकि होना चाहिये, सामाजिक व्यक्ति को वस्त्रधारी होना चाहिये।

भूख-प्यास की सन्तुष्टि और सर्दी-गर्मी से रक्षा मनुष्य की प्राथमिक भौतिक आवश्यकताएँ होती हैं। उसके पश्चात् स्वाद का नम्बर आता है। हमारी भौतिक आवश्यकताएँ इसी रूप में हमारे मानसिक और आध्यात्मिक विकास में योग देती हैं। कणाद ऋषि धर्म की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि जिससे लोक और परलोक की सिद्धि हो वह धर्म कहलाता है ''यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।'' लोक की सिद्धि (अभ्युदय) साधन है और परलोक की सिद्धि (निःश्रेयस) साध्य है। आध्यात्मिक उन्नति चमत्कार जैसी वस्तु नहीं होती। शरीर की स्थूलतम आवश्यकताओं और आत्मा के सूक्ष्मतम विकास के मध्य एक लम्बी यात्रा तय करनी होती है और इस यात्रा की पिछली सीढ़ी आगे की सीढ़ी पर चढ़ने के लिये सहारे का काम देती है। शरीर और आत्मा की विशुद्ध आवश्यकताओं के मध्य अनेक मध्यवर्तिनी आवश्यकताएँ हुआ करती हैं। उनमें से कुछ शारीरिक, कुछ शारीरिक और मनोवैज्ञानिक और कुछ मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक होती हैं जो क्रमशः कुण्डलाकार पंक्तियों में ऊँची उठती रहती हैं। संस्कृति के वास्तविक अभिप्राय को समझने और संस्कृति एवं सभ्यता में जीवन के विविध विभागों का उचित स्थान नियत करने के लिये इस क्रमिक विकास को ठीक-ठीक रूप से हृदयङ्गम करना आवस्यक है।

रूई का बीज बोने के समय से लेकर उसके बढ़िया कोट

में परिवर्तित होने तक विविध प्रक्रियाओं का लम्बा क्रम जारी रहता है और यदि पहननेवाला इस सत्य को अनुभव कर ले कि वस्त्रों से किसी साध्य की सिद्धि होती है तो ये सब प्रक्रियाएँ मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में योग देनेवाली होती हैं। इस वाक्य में प्रयुक्त, ''यदि'' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह एक शर्त का द्योतक है।

साधन की अनभिज्ञता का अर्थ उसका दुरुपयोग होता है और यह अनभिज्ञता साधन के लिए अत्यन्त घातक होती है। बनाव-शृङ्गार से वस्त्र पहननेवाले सभी सभ्य नहीं होते और सब सभ्य व्यक्ति संस्कृत नहीं होते। साधन का परिज्ञान अनिवार्य रूप से होना चाहिये। न इसकी उपेक्षा होनी चाहिये और न इसे नगण्य समझना चाहिये। नीचे के वेदमन्त्रों में इस भाव का बड़ा उत्तम प्रतिपादन किया गया है।[१]

(१) हे पवित्र यज्ञ के योग्य विद्वान्! भव्य वस्त्रों को धारण करके हमारे इस यज्ञ को कर।

(२) अति दीप्त प्रभात वेलाएँ जिस प्रकार किरणों के आधार पर दूर-दूर देश में पहुँचकर जगत् के सुखकारी वस्त्रों (प्रकाशों) को फैलाती हैं।

(३) वस्त्र के समान आच्छादित करो।

(४) तुम दोनों खूब हृष्ट-पुष्ट होकर उत्तम वस्त्रों को धारण करो।

(५) उत्तम वस्त्रों से जिस प्रकार वृद्ध या विद्योपदेष्टा गुरु को आदरपूर्वक सुशोभित करते हैं उसी प्रकार इन्द्र को अच्छी प्रकार उत्तम वस्त्रों से अलंकृत करो।

---

१. वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जां पते। सेमं नो अध्वरं यज॥ —ऋ० १।२६।१

२. तुभ्यमुषासः शुचयः परावति भद्रा वस्त्रा। तन्वते दंसु रश्मिषु॥ —ऋ० १।१३४।४

३. वस्त्रेणेव वासया......॥ —ऋ० १।१४०।१

४. युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे॥ —ऋ० १।१५२।१

५. इन्द्रं सोमैरोर्णुत जूर्न वस्त्रैः॥ —ऋ० १।१४।३

(६) अच्छे श्वेत वस्त्र पहनना यह हमारी पुरानी पैतृक प्रवृत्ति है।

(७) माताएँ पुत्र के लिए वस्त्र बुनती है।

(८) मुझे दश वस्त्र मिलें।

(९) सुन्दर कल्याण सूचक संग्राम योग्य वस्त्रों को पहने हुए।

(१०) हमें उत्तम वस्त्र दो!

(११) सुन्दर वस्त्र पहने हुए!

(१२) जिस प्रकार तन्तुवाय अपने कपड़े को बुनता है उसी प्रकार तुम अपने कर्मों को बुनते हो।

(१३) लोग हमें वस्त्र दें।

(१४) ....पाँच नये वस्त्र।

(१५) वधू के वस्त्र।

(१६) तन्तुवाय भेड़ की ऊन के सुन्दर वस्त्र बुनता है। इस मन्त्र में आए 'मर्मृजत्' शब्द से न केवल ऊनी वस्त्रों का ही अपितु स्वच्छ धुलाई का भी बोध होता है।

(१७) तू ऊन के सदृश नीवि अधो वस्त्र है।

(१८) परिधान वा अधो वस्त्र के रूप में तू जिस किसी वस्त्र

---

६. भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः ॥ —ऋ० ३।३९।२

७. वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति ॥ —ऋ० ५।४७।६

८. दश वस्त्राधि भोजना ॥ —ऋ० ६।४७।२३

९. भद्रा वस्त्रा समन्या वसानः ॥ —ऋ० ९।९७।२

१०. अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्ष ॥ —ऋ० ९।९७।५०

११. स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानः ॥ —ऋ० १०।१।६

१२. तन्वाते धियो वस्त्रापमेव ॥ —ऋ० १०।१०६।१

१३. अस्मे वस्त्राणि एरयन्ताम् ॥ —अथर्व० ५।१।३

१४. पञ्च नवानि वस्त्रा ॥ —अथर्व० ९।५।२५

१५. वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ॥ —अथर्व० १४।२।४१, ४२

१६. वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत् ॥ —ऋ० १०।२६।६

१७. सोमस्य नीविरसि ॥ —यजु० ४।१०

१८. यत्ते वासः परिधानं तां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे तत् कृणमः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥ —अथर्व० ८।२।१६

का उपयोग करता है, वह तेरे शरीर के लिये शुभ और स्पर्श करने में कोमल हो।

(१९) समस्त किनारे ताना बाना बनानेवाले समस्त धागे, और वधू द्वारा बुने हुए वस्त्र कोमल और मनोहर हों।

(२०) ऊपरी वस्त्र।

(२१) संग्राम के वस्त्र।

(२२) वे परिधान के रूप में घोड़े पर वस्त्र डालते हैं।

(२३) विशेष रूप से वस्त्र को पहनती हुई।

(२४) वरुण अपने स्वस्थ शरीर को ज्योतिर्मय कवच से ढकता है।

(२५) प्रजा का पालक परमेश्वर ज्ञान प्रकाश और विजय कामना को धारण करता हुआ समस्त लोकों का पालन करता है। वह क्रान्तदर्शी अन्तर्यामी होकर भी सेनापतिवत् पीले, उज्ज्वल सुवर्णमय कवच के तुल्य स्वप्रकाशमय रूप को धारण करता है।

(२६) कवच धारण करते हुए।

(२७) कवचवत् विश्व को धारण करता है।

हम समझते हैं कि इतने अधिक अवतरणों से पाठकों को यह निश्चय हो जाएगा कि वेदों में जिस समाज की कल्पना की गई है वह नंगे भिखारियों वा असभ्यों का समाज नहीं है। इतने लाखों

---

१९. ये अन्ता यावतीः सिचो ये ओतवो ये च तन्तवः।
वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात्॥
—अथर्व० १४।२।५१

२०. अधी वासं॥ —ऋ० १।१४०।९

२१. ....वर्मेव युत्सु॥ —ऋ० १।१४०।१०

२२. यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधी वासं॥
—ऋ० १।१६२।१६; यजु० २५।२९

२३. स्तरीर्नात्कं व्युतं वसाना॥ —ऋ० १।१२२।२

२४. बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययम्॥ —ऋ० १।२५।१३

२५. दिवो धर्त्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशंगं द्रापिं प्रति मुञ्चते कविः॥
—ऋ० ४।३।३

२६. द्रापिं वसानः॥ —ऋ० ९।८६।१४

२७. ....प्रति द्रापिममुञ्चथाः॥ —ऋ० ९।१००।९

वर्षों के उपरान्त 'वासः' 'नीविः' 'आत्क' वा 'द्रापि' शब्दों की ठीक-ठीक व्याख्या करना कठिन है। ये अंग्रेजी के 'कोट' शब्द के समान साधारण व्यवहार के शब्द प्रतीत होते हैं। कोट शब्द किसी विशेष प्रकार के कोट का सूचक नहीं होता। भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के कोट पहनते हैं। परन्तु यह तो स्पष्ट है कि वेद में ऊन, रेशम या रूई के वस्त्रों का उल्लेख है जो कोमल और चमकीले होते हैं। वेद में चार जामे वा रक्षा करनेवाले परिधान ''झूल'' के रूप में घोड़े के वस्त्रों का भी उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि वधू को अपने पति के वस्त्र बुनने की प्रेरणा की जाती थी। कवच के उल्लेख से स्पष्ट है कि वस्त्र बुनने की कला में कवच का उच्च कोटि का विकास हुआ था।

भारत के कतिपय नंगे साधुओं को देखकर लोग यह सोचने लगते हैं कि प्राचीन काल के भारतीयों को वस्त्र धारण करने का ज्ञान न था परन्तु ऐसा सोचते हुए वे लोग भारतीय मस्तिष्क की दार्शनिक प्रक्रियाओं को भूल जाते हैं। जीवन एक वृत्त के समान है। सभ्य और असभ्य सब नंगे ही उत्पन्न होते हैं। वस्त्रों के साथ हमारी अनित्य सम्बन्ध होता है। हम नंगे ही मरते हैं। जो व्यक्ति वस्तुओं के तत्त्व को समझने लग जाते हैं वे त्याग की महिमा को अनुभव करके कम-से-कम वस्त्रों में अपना निर्वाह कर लेते हैं। बहुत से नंगे फकीर उस अवस्था को पार कर लेते हैं जब बढ़िया वस्त्र पहनने में उन्हें आनन्द आता था। दूर न जाकर महात्मा गाँधी का उदाहरण ले लीजिये। महात्माजी अपने जीवन के आरम्भ काल में बढ़िया वस्त्र पहनते थे परन्तु बाद में जब उनका आध्यात्मिक उत्थान हुआ और बाह्य टीप-टाप में उनका कोई आकर्षण न रहा तब वे बहुत कम वस्त्रों से काम चला लेते थे। लोगों की संस्कृति में वस्त्रों का स्थान तो है किन्तु वे संस्कृति का सार नहीं होते। पौधे का बीज बहुत से बाह्य कलेवरों से ढका होता है जिससे उसकी बाह्य बाधाओं से रक्षा हो जाती है परन्तु जब वह अंकुरित होकर वृक्ष के रूप में खिलने लगता है तब वह अपने बाह्य कलेवरों को उतार फेंकता है। बीज का सब से भीतर का तत्त्व ही अंकुरित होता है।

(१२)
व्यापार और देशाटन

हमारा कृषि और औद्योगिक उत्पादन अन्य मनुष्यों और स्थानों तक पहुँचना चाहिये जिससे हमारे कार्य-कौशल का सम्यक् उपयोग हो सके। वेदों ने जिस समाज-संगठन का निरूपण किया है उसके चार वर्णों में से एक वर्ण वैश्य कहलाता है। कृषि, कला-कौशल और वाणिज्य ये तीन वैश्य के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत रखे गये हैं। वेदों में व्यापारी का मुख्य नाम वणिक् आता है।

ऋग्वेद १।११२।११ में हम पढ़ते हैं—

याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधुकोशो अक्षरत्।
कक्षीवन्तं स्तोतारं याभिरावतं ताभिरूषु ऊतिभिरश्विना गतम्॥

यहाँ 'वणिजे' शब्द सम्प्रदान कारक में प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है 'व्यापारी के लिए'। इस विशेष्य के दो विशेषण हैं। एक 'औशिजाय' जिसका अर्थ है बहुत उद्योगी और दूसरी दीर्घश्रवसे जिसका अर्थ है बहुत ज्ञानवाला। उद्योगी और विद्वान् व्यापारी पर कोश सुख की वर्षा करता है। भाव यह है कि यदि व्यापारी उद्योगी और ज्ञानवान् हो तो वह धन-संग्रह कर सकता है। संस्कृत की एक सुप्रसिद्ध उक्ति है कि 'वाणिज्ये वसति लक्ष्मीः' अर्थात् लक्ष्मी व्यापार में निवास करती है।

अथर्ववेद ३।१५।१ का मन्त्र बड़ा सारगर्भित है—

इन्द्रमहं वणिजे चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईसानो धनदा अस्तु मह्यम्॥

मैं वैश्य प्रभु को आगे आने और हमारा मार्ग-प्रदर्शन करने की प्रेरणा करता हूँ। दुर्भाव, मार्ग के डाकू और भयंकर जन्तुओं को पराभूत करके वह मुझे धन देनेवाला हो।

कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यापार विषयक कार्यों के लिए तीन वस्तुओं की आवश्यकता हुआ करती है—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव और सहयोग।

(२) आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था।

(३) यातायात की सुरक्षा।

जल, थल और वायुमार्गों के निर्माण में व्यापारियों का सदैव बहुत बड़ा योग हुआ करता है। देशों, राष्ट्रों और जातियों को परस्पर में आबद्ध करने का जितना श्रेय व्यापारियों को प्राप्त रहता है उतना अन्यों को प्राप्त नहीं होता।

इसके अतिरिक्त विश्वबन्धुत्व की भावना को जागृत करने में भी उनका बहुत बड़ा योग होता है। कला-कौशल की उन्नति को लक्ष्य में रखकर व्यापार करनेवाले व्यापारी बहुत कम होते हैं। आक्रान्ता भी देशाटन करते हैं, भ्रातृत्व की स्थापना के लिये नहीं प्रत्युत उसको नष्ट करने के लिये। व्यापारी लोग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को मधुर एवं दृढ़ बनानेवाले भी होते हैं। उनका लेन-देन का व्यवहार उत्तम और सत्यतापूर्ण होता है। अथर्ववेद के उपर्युक्त सूक्त का एक और मन्त्र इस प्रकार है—

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं माकृणोतु।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च॥

—अथर्व० ३।१५।४

हे श्रेष्ठ प्रभो! हमारी धृष्टता को क्षमा करो। हम बहुत दूर से आये हैं। हमारी बिक्री और लेन-देन बढ़े और व्यापार सामग्री का आदान-प्रदान मुझे समृद्ध बनाये।

वेद में इस प्रकार को प्रोत्साहन मिलता है। वैदिक शिक्षाएँ प्रत्येक वस्तु को उचित सीमा के भीतर रखती हैं। इसी में उनका सौन्दर्य निहित है। वाणिक् का कार्य समाज को धन-धान्य से परिपूर्ण करना होता है न कि उसका रक्त चूसना। यदि वणिक् अपनी मानवीय दुर्बलताओं के कारण औचित्य की सीमाओं का अतिक्रमण करने लग जाय तो वणिक् के पद से च्युत होकर 'पणि' बन जाता है। धन के अनुचित रीति से संग्रह करके रखने और चोर बाजार करनेवाले व्यापारी के लिये 'पणि' शब्द निन्दात्मक भाव में प्रयुक्त होता है! ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पणि' शब्द का उल्लेख मिलता और पणियों की भर पेट निन्दा की गई है। इस प्रसङ्ग में ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के २५वें सूक्त का ७वाँ मन्त्र विचारणीय

है।

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते। आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलो भूत्॥

—ऋ० ४।२५।७

सोमप्रिय इन्द्र धनवान् और अनुदार कंजूस 'पणि' की सहायता नहीं करता। वह इस प्रकार के व्यक्ति की छुपाकर रक्खी हुई सम्पत्ति को नष्ट करके उसे नंगा मार देता है। वह इन्द्र केवल उसका रखा होता है जो यज्ञ की हवि रूप में भोजन बनाता है।

यहाँ 'पणि' के लिए दो उपनामों का प्रयोग हुआ है। एक 'रेवता'। इसका अर्थ है धन को बटोरकर रखनेवाला और दूसरा असुन्वता जिसका अर्थ है त्याग न करनेवाला। वेद का अर्थ है लाभ को संचित करनेवाला।

ऋग्वेद ६।५१।१४ में निम्नलिखित पाठ आता है—

जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः॥

धन लोलुप पणि का वध कर दो। निस्सन्देह वह भुक्कड़ भेड़िया है।

ऋग्वेद ६।५३।३ निम्न प्रकार है—

अदित्सन्तंचिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय। **पणेश्चिद् विम्रदा मनः॥**

हे प्रभो! अनुदार को उदार और पणि के हृदय को कोमल बनाओ।

'पणि' शब्द एक दूसरे शब्द 'वल' के साथ सम्बद्ध है। ये दोनों शब्द प्रायः एक साथ प्रयुक्त होते हैं। मैं समझता हूँ 'वल' प्रधान पणि वा चोर बाजार करनेवालों का मुखिया होता है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकार के भेड़ियों स्वरूप व्यापारियों से प्रजा की रक्षा करे।

यूनान के उत्साही सामुद्रिक व्यापारियों को जो फोनीशियन कहे जाते थे 'पणि' सिद्ध करने की जब तब चेष्टा होती रही है। कुछ विद्वानों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पणियों के विदेशी होने के कारण ही वेद में उनके लिए कठोर भाषा का प्रयोग हुआ है। परन्तु 'पणि' शब्द से न तो किसी भौगोलिक भावना का आभास मिलता है और न जातीय भावना का। 'पणि' शब्द द्वारा वर्तमानकालीन पूंजीवाद के अनुचित हथकण्डों के प्रति क्रोध और

असन्तोष का प्रकाश किया गया प्रतीत होता है। सम्भव है कि वैदिक काल के 'पणि' लोग कालान्तर में पाश्चात्त्य देशों में जाकर बस गये हों। बात कुछ भी क्यों न हो, इतना तो स्पष्ट है कि वेदों में व्यापार को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया है और वह मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास का एक साधन माना गया है। परन्तु व्यापारियों के लिये एक सीमा निर्धारित कर दी गई है जिसको अतिक्रमण करने की उन्हें अनुमति नहीं होती। व्यापार न केवल समाज के लिए अपितु स्वयं व्यापारियों के लिये साधन होता है साध्य नहीं होता। सीमा का अतिक्रमण हो जाने पर समाज को सम्पत्ति की और व्यापारियों को आध्यात्मिकता की हानि होती है। वह कौन-सा उपाय है जिससे व्यापारी को इस हानि का बोध हो जाय? दुःख तो इस बात का है कि व्यापारी अपनी इस हानि को लाभ मानता है। यह उसके हृदय की संकीर्णता है। इसी संकीर्णता के कारण वह व्यापारी 'पणि' वा दुष्ट व्यापारी बन जाता है।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १०८वें सूक्त में बतलाया गया है कि सरमा नाम की एक कुतिया पणियों के गुप्त आश्रय स्थान का पता लगाने के लिये भेजी गई है। सायण ने 'सरमा' का अर्थ देवशुनी, वा देवताओं की कुतिया किया है। महात्मा यास्क के निरुक्त में 'सरमा सरस्वती' पाठ मिलता है। 'कुतिया और सरस्वती' में क्योंकर संगति बिठाई जाय? इस प्रसंग में दो बातों पर ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। सब से पहली यह कि ऋग्वेद या अन्य किसी वेद में कहीं पर भी देवशुनी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। पौराणिकों ने 'सरमा' का नाम कुतिया रख दिया है। दूसरी बात यह है कि सरमा हिन्दू साहित्य में वर्णित देवताओं के गुरु बृहस्पति की प्रतिनिधि बतलाई गई है।

बृहस्पति न तो गुप्तचर थे और न वणिक् ही थे। मेरी सम्मति में 'सरमा' का अर्थ 'विद्या' है जो दुष्टजनों के गुह्यतम स्थानों में प्रविष्ट होकर और उनके दुर्गुणों को दूर करके उन्हें सन्मार्ग पर लाती है। मेरी इस सम्मति की पुष्टि स्वयं सायण महोदय द्वारा हो रही है। ऋग्वेद के ५।४५।७-८ का भाष्य करते हुए वे लिखते हैं 'सरमा' सरण शीला स्तुतिरूपा वाक्। यहाँ 'सरमा' का अर्थ 'विद्या' किया गया है। ऋग्वेद १०।१०८ में उन यत्नों की चर्चा

की गई है जो पणियों द्वारा अपने लूट के माल में से आधा माल सरमा को देकर उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिये किये जाते हैं। परन्तु 'सरमा' उस माल को अस्वीकार करके उस दुष्कृत्य के विरुद्ध उनको कड़ी चेतावनी दे देती है। हम जानते हैं कि पूंजीपति किस प्रकार विद्वान् पुरुषों को अपने लाभ में से कुछ भाग देकर उनको अपने पक्ष में कर लेते हैं। परन्तु ऐसा करके वे विद्वान् लोग अपने ज्ञान के साथ व्यभिचार करके पतित हो जाते हैं। पूँजीवाद क्या है? यह भी व्यापार के साथ एक प्रकार का व्यभिचार है। इसका सुधार अध्यात्म ज्ञान के द्वारा उन्नत हुई नैतिक भावना से ही सम्भव हुआ करता है। इसका अभिप्राय है सांस्कृतिक ध्येय को दृष्टि पथ में रखते हुए उस पर अपने समस्त साधनों को केन्द्रीभूत करना।

यह निर्विवाद सत्य है कि भौतिकवाद में पूँजीवाद को अन्त करने की क्षमता नहीं है। यह एक रूप को छोड़कर दूसरा रूप ले लेता है। पूँजीपतियों को नष्ट करना बड़ा सुगम है। परन्तु उनको नष्ट करके तुम स्वयं पूँजीपति बन सकते हो। इस प्रकार पूँजीवाद तो बना ही रहा। यह तो एक को गद्दी से उतारकर उस पर दूसरे को बैठाने के समान बात हुई। इन्द्र द्वारा नियुक्त सरमा (अध्यात्म ज्ञान) ही प्राणियों को ठीक मार्ग पर लाती है।

यहाँ कुछ विषयान्तर हो गया है। ऐसा करने का उद्देश्य पाठकों पर यह अङ्कित करना है कि वैदिक शिक्षाओं की प्रचलित भावना अपने विशुद्ध रूप से बहुत दूर चली गई है। हमें इस सम्बन्ध में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। भारतीय विद्या विज्ञान के पण्डितों द्वारा इस समय तक जो यत्न हुए हैं उनका उचित सम्मान करते हुए भी हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि वेदों का अभी तक पूर्ण अनुसन्धान नहीं हुआ है और उनमें अनेक स्थलों को छुआ तक नहीं गया है।

व्यापार का आवागमन के साधनों के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। 'व्यापार' और मार्ग की प्रायः एक साथ चर्चा होती है। संस्कृत का व्यापार शब्द 'पृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है फैलना।

ऋग्वेद में 'पाथ' शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है।

कई स्थलों पर शाब्दिक अर्थ के रूप में और कई स्थलों पर आलंकारिक रूप में। अलंकार से शाब्दिक अर्थ का महत्त्व बढ़ जाया करता है। स्पष्ट है कि मनुष्य को सामाजिक बनाने में मार्गों का बहुत बड़ा योग होता है। इस प्रसङ्ग में हम केवल एक सूक्त का उल्लेख करने में सन्तोष मानेंगे—

१. हे मार्गों के नियामक! हमें छोटे मार्ग से अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दे। हमारे मार्ग में कोई भय न हो। तू हमारा मार्ग-प्रदर्शन कर।

२. हे मार्गों के नियामक! जो पापी दूसरों के धनों का चोर दुःखदायी होकर हम पर शासन करता है उसको तू हमारे मार्ग से काँटे के समान दूर उखाड़ फेंक।

३. हे राजन्! तू हर प्रकार के लुटेरों को हमारे मार्ग से हटा दे।

४. हे राजन्! तू आँख के सामने देखते-देखते और पीठ पीछे दोनों प्रकार से पदार्थ चुरानेवाले पाप इत्यादि करने की घात में लगे चोरों और दुष्टों को पराभूत कर।

५. हे दुष्टों के नाश करनेवाले! हे प्रजा के पोषक राजन्! जिस शासन बल से तू माँ-बाप के समान प्रजा के पालक अधिकारी पुरुषों को प्रेरित करता है हम तेरे उस प्रजा के रक्षण तथा व्यवहार को चाहते हैं।

६. हे समस्त श्रेष्ठ ऐश्वर्यों के स्वामिन्! तू हमें धन और उदारता से सम्पन्न कर।

७. हे मार्गों के नियामक परमेश्वर! हम लोगों को सुख से जाने योग्य उत्तम मार्ग से सब विघ्न बाधाओं से पार कर और हमें गन्तव्य स्थान तक पहुँचानेवाला बना।

१. सं पूषन्नध्वनस्तिर व्यंहो विमुचो न पात्। स क्ष्वा देव प्रणस्पुरः ॥
२. यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अप स्म तं पथो जहि ॥
३. अव त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्। दूरमधि स्रुतेरज ॥
४. त्वं तस्य द्वायविनोऽघशंसस्य कस्य चित्। पदाभि तिष्ठ तपुषिम् ॥
५. आ तत् ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे। येन पितॄनचोदयः ॥
६. अधानो विश्व सौभग हिरण्यवाशीमत्तम। धनानि सुषणा कृधि ॥
७. अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः ॥

८. हे मार्गों के नियामक परमेश्वर! तू हमें यव आदि अन्नों औषधियों से युक्त देशों को पहुँचा जिससे मार्ग में कोई नया सन्ताप, पीड़ा, थकान आदि भी न हो।

९. हे सर्वपोषक राजन्! तू हमें समस्त ऐश्वर्यों से युक्त कर। तू ही अच्छी प्रकार हमें सब ऐश्वर्य प्रदान कर। तू अच्छी प्रकार तेजस्वी हो। तू ही हमारे पेटों को अन्न से पूर्ण कर। तू ही समस्त कर्त्तव्यों और ज्ञानों को जान और जना।

१०. हम लोग सब के पोषक पुरुष को न मारें, उसे पीड़ित न करें।

इन वेदमन्त्रों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) मार्ग यथा सम्भव अधिक-से-अधिक छोटे होने चाहियें।

(२) बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र यातायात के सुलभ साधनों के द्वारा आपस में मिले होने चाहियें।

(३) यातायात को सुरक्षित एवं द्रुतगामी बनाने के लिये राज्य द्वारा नियुक्त एक नियमित शासन समिति होनी चाहिये।

(४) प्रजा को इस समिति के साथ पूरा-पूरा सहयोग करना चाहिये और यदि वह समिति प्रजा के हितों की रक्षा के लिये हस्तक्षेप करे तो प्रजा को अप्रसन्न न होना चाहिये।

हमने पूषन् का अनुवाद 'मार्गों का नियामक' किया है। 'पूषन्' का शाब्दिक अर्थ रक्षक है। यदि हमने पौराणिक दन्त कथाओं का अवलम्बन किया होता तो हम इसका अर्थ 'मार्ग का देवता' करते। हमारी सम्मति में वेदों में पौराणिक दन्त कथाओं का समावेश अनुचित है। यातायात मन्त्री को पूषन कह सकते हैं। हमारी इस सम्मति पर आपत्ति हो सकती है परन्तु स्वयं दन्त कथाओं पर आश्रित व्याख्याएँ ही वैदिक समाज के यातायात के महत्त्व को दर्शा रही हैं।

अब हम जल और वायु मार्गों पर विचार आरम्भ करते हैं। वेदों में समुद्र यात्राओं के अवतरणों का इतना बाहुल्य है कि कभी-कभी भारतीय ज्ञान-विज्ञान के पण्डित भी यह सोचने लग जाते हैं

---

८. **अभि सूयवसं नय न नवज्वारो अध्वने। पूषन्निह क्रतुंविदः ॥**

९. **शग्धि पूर्धि प्रयंसि च शिशीहि प्रास्युदरम्। पूषन्निह क्रतुं विदः ॥**

१०. **न पूषणं मेथामसि सूक्तै रभि गृणीमसि। वसूनि दस्ममीमहे ॥**

कई स्थलों पर शाब्दिक अर्थ के रूप में और कई स्थलों पर आलंकारिक रूप में। अलंकार से शाब्दिक अर्थ का महत्त्व बढ़ जाया करता है। स्पष्ट है कि मनुष्य को सामाजिक बनाने में मार्गों का बहुत बड़ा योग होता है। इस प्रसङ्ग में हम केवल एक सूक्त का उल्लेख करने में सन्तोष मानेंगे—

१. हे मार्गों के नियामक! हमें छोटे मार्ग से अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दे। हमारे मार्ग में कोई भय न हो। तू हमारा मार्ग-प्रदर्शन कर।

२. हे मार्गों के नियामक! जो पापी दूसरों के धनों का चोर दुःखदायी होकर हम पर शासन करता है उसको तू हमारे मार्ग से काँटे के समान दूर उखाड़ फेंक।

३. हे राजन्! तू हर प्रकार के लुटेरों को हमारे मार्ग से हटा दे।

४. हे राजन्! तू आँख के सामने देखते-देखते और पीठ पीछे दोनों प्रकार से पदार्थ चुरानेवाले पाप इत्यादि करने की घात में लगे चोरों और दुष्टों को पराभूत कर।

५. हे दुष्टों के नाश करनेवाले! हे प्रजा के पोषक राजन्! जिस शासन बल से तू माँ-बाप के समान प्रजा के पालक अधिकारी पुरुषों को प्रेरित करता है हम तेरे उस प्रजा के रक्षण तथा व्यवहार को चाहते हैं।

६. हे समस्त श्रेष्ठ ऐश्वर्यों के स्वामिन्! तू हमें धन और उदारता से सम्पन्न कर।

७. हे मार्गों के नियामक परमेश्वर! हम लोगों को सुख से जाने योग्य उत्तम मार्ग से सब विघ्न बाधाओं से पार कर और हमें गन्तव्य स्थान तक पहुँचानेवाला बना।

---

१. सं पूषन्नध्वनस्तिर व्यंहो विमुचो न पात्। स क्ष्वा देव प्रणस्पुरः॥
२. यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अप स्म तं पथो जहि॥
३. अव त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्। दूरमधि स्रुतेरज॥
४. त्वं तस्य द्वायविनोऽघशंसस्य कस्य चित्। पदाभि तिष्ठ तपुषिम्॥
५. आ तत् ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे। येन पितृनचोदयः॥
६. अधानो विश्व सौभग हिरण्यवाशीमत्तम। धनानि सुषणा कृधि॥
७. अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः॥

८. हे मार्गों के नियामक परमेश्वर! तू हमें यव आदि अन्नों औषधियों से युक्त देशों को पहुँचा जिससे मार्ग में कोई नया सन्ताप, पीड़ा, थकान आदि भी न हो।

९. हे सर्वपोषक राजन्! तू हमें समस्त ऐश्वर्यों से युक्त कर। तू ही अच्छी प्रकार हमें सब ऐश्वर्य प्रदान कर। तू अच्छी प्रकार तेजस्वी हो। तू ही हमारे पेटों को अन्न से पूर्ण कर। तू ही समस्त कर्त्तव्यों और ज्ञानों को जान और जना।

१०. हम लोग सब के पोषक पुरुष को न मारें, उसे पीड़ित न करें।

इन वेदमन्त्रों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) मार्ग यथा सम्भव अधिक-से-अधिक छोटे होने चाहियें।

(२) बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र यातायात के सुलभ साधनों के द्वारा आपस में मिले होने चाहियें।

(३) यातायात को सुरक्षित एवं द्रुतगामी बनाने के लिये राज्य द्वारा नियुक्त एक नियमित शासन समिति होनी चाहिये।

(४) प्रजा को इस समिति के साथ पूरा-पूरा सहयोग करना चाहिये और यदि वह समिति प्रजा के हितों की रक्षा के लिये हस्तक्षेप करे तो प्रजा को अप्रसन्न न होना चाहिये।

हमने पूषन् का अनुवाद 'मार्गों का नियामक' किया है। 'पूषन्' का शाब्दिक अर्थ रक्षक है। यदि हमने पौराणिक दन्त कथाओं का अवलम्बन किया होता तो हम इसका अर्थ 'मार्ग का देवता' करते। हमारी सम्मति में वेदों में पौराणिक दन्त कथाओं का समावेश अनुचित है। यातायात मन्त्री को पूषन कह सकते हैं। हमारी इस सम्मति पर आपत्ति हो सकती है परन्तु स्वयं दन्त कथाओं पर आश्रित व्याख्याएँ ही वैदिक समाज के यातायात के महत्त्व को दर्शा रही हैं।

अब हम जल और वायु मार्गों पर विचार आरम्भ करते हैं। वेदों में समुद्र यात्राओं के अवतरणों का इतना बाहुल्य है कि कभी-कभी भारतीय ज्ञान-विज्ञान के पण्डित भी यह सोचने लग जाते हैं

---

८. **अभि सूयवसं नय न नवज्वारो अध्वने। पूषन्निह क्रतुंविदः॥**

९. **शग्धि पूर्धि प्रयंसि च शिशीहि प्रास्युदरम्। पूषन्निह क्रतुं विदः॥**

१०. **न पूषणं मेथामसि सूक्तै रभि गृणीमसि। वसूनि दस्ममीमहे॥**

कि वेदकालीन भारत इंग्लैण्ड और जापान के सदृश चहुँ ओर समुद्र से घिरा हुआ द्वीप रहा होगा। प्रोफेसर ए० सी० दास की मान्यता है कि प्राचीनकाल में समूचा राजस्थान समुद्र था। उस समय समुद्र तट से दूर भारत में कदाचित् ही कोई स्थान होगा। प्रोफेसर महोदय के साथ सहमत होना कठिन है। क्योंकि वेदों में अनेक स्थलों पर स्थल मार्गों का उल्लेख है। प्राचीन काल के ऋषियों का यह विश्वास था कि वैदिक शिक्षाएँ सार्वभौम हैं और वे भौगोलिक एवं जातीय सीमाओं से ऊपर हैं। इस बात पर यहाँ विचार करना अप्रासङ्गिक है। ऋग्वेद में स्थल मार्गों के प्रसङ्ग में 'पूषन्' जिस अर्थ का द्योतक है जल मार्गों के प्रसङ्ग में 'वरुण' और वायु मार्गों के प्रसङ्ग में 'सविता' उसी अर्थ के द्योतक हैं। कभी-कभी वरुण सब के लिये प्रयुक्त होता है।

वेद के निम्नलिखित मन्त्र ध्यान देने योग्य हैं—

(१) **वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः ॥**

—ऋ० १।२५।७

वीना का अर्थ प्रायः 'पक्षीगण' किया जाता है, हम इस का अर्थ वायुयान करते हैं। हमारे इस अर्थ पर कदाचित् पाठकों को आश्चर्य हो, निस्सन्देह 'वीनां' का अर्थ पक्षीगण ही है। परन्तु मन्त्र के अन्तिम भाग में 'नौकाओं' का उल्लेख है, समुद्र की मछलियों का नहीं, कविता के शुद्ध रूप की रक्षा के लिए समुद्र की नौकाओं के सदृश वीना का अर्थ आकाश यान करना नितान्त युक्ति संगत है। वीनां के अर्थ में सन्देह हो सकता है परन्तु नावः के अर्थ पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

(२) **समुद्रे न श्रवस्यवः ॥** —ऋ० १।४८।३

समुद्र में धन की खोज करनेवाले व्यापरियों के सदृश।

यहाँ व्यापार के लिये प्रयुक्त होनेवाले जहाज़ का उल्लेख है।

(३) **समुद्रं न संचरणे सनिष्यवः ॥** —ऋ० १।५६।२

समुद्र में धन की खोज करनेवाले व्यापारियों के सदृश।

(संख्या २ के अनुरूप)

(४) **नौभिरात्मन्वती भिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥**

आकाश में और जल की धरातल पर चलनेवाली नौकाओं के द्वारा।

यहाँ 'नौभि' के दो उल्लेखनीय विशेषण हैं। एक 'अन्तरिक्षप्रुद्'

आकाश में चलनेवाली और दूसरा 'अपोदक' जल पर चलनेवाली। क्या इनसे हम जल के ऊपर और आकाश में चलनेवाली 'नौकाओं' का अर्थ नहीं निकाल सकते?

(५) **समुद्रे शतारित्रां नावम्......॥** —ऋ० १।११६।५

सौ मस्तूलोंवाला समुद्र पोत।

(६) **दैवीं नावम्......॥** —यजु० २१।६

दैवीय जहाज़।

(७) **नावश्चरन्ति......॥** —यजु० १०।१९

जहाज चलते हैं।

(८) **सुनावमारुहेयम्॥** —यजु० २१।७

परमात्मा करे मैं अच्छे जहाज पर चढ़ूँ।

(९) **नावो हिरण्ययीः......॥** —अथर्व० ५।४।५

स्वर्ण के जहाज......।

(१०) **नावमारोह......॥** —अथर्व० २।३६।५

जहाज पर चढ़ो।

(११) **आरोहत.....नावम्॥** —अथर्व० ४८।२।४८

जहाज पर चढ़ो।

वैदिक साहित्य में नौका वा जहाज का आलङ्कारिक प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि साधारण व्यक्ति भी सांसारिक जीवन की तुलना समुद्र के साथ करता है जिसे आनन्द स्थान में जाने के लिए धर्म की नाव से पार करना होता है। जहाज विषयक शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि इन शब्दों का प्रयोग करनेवाले सामुद्रिक व्यापार में दक्ष थे।

अब हमें अन्त में वायु मार्गों के प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिए। वर्तमान वैज्ञानिक जगत् में वायुयान नवीनतम आविष्कार हैं और प्राचीन साहित्य में इनका उल्लेख है। ऐसी चर्चा करने से आधुनिक लोगों में ईर्ष्या उत्पन्न हुए बिना न रह सकेगी। ऐसा होना स्वाभाविक है। हमारे आधुनिक विज्ञान-वेत्ताओं को इस दिशा में जो अनूठा श्रेय प्राप्त है उससे उन्हें वंचित करने का हमारा आशय नहीं है। परन्तु हम यह पूछते हैं कि यदि हम लेखबद्ध प्रमाणों की ओर से अपनी आँखें बंद कर लें तो क्या यह वैज्ञानिक दृष्टि से न्याय संगत होगा?

हमने ऊपर ऋग्वेद १।२५।२ का उल्लेख किया है जिसमें

'वीनां' शब्द आता है। हमने इसका अर्थ 'वायुयान' क्यों किया है। इसका कारण भी हमने बता दिया है। कुछ व्यक्ति हमारी व्याख्या की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में हम से वाद-विवाद करने के लिए उद्यत हो सकते हैं। परन्तु हम नीचे दो वेदमन्त्र उद्धृत करते हैं—

(१) ऋग्वेद १।३५।११—

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव॥

हे सब के उत्पादक परमेश्वर! आकाश में धूल रहित पुराने और भली प्रकार बने हुए जो मार्ग हैं। जिन पर यात्रा करना सुगम है। आज हमारी रक्षा कर और हमें मार्ग बता।

इसमें सन्देह नहीं वायुमार्ग धूल रहित होते हैं। वे आकाश में होते हैं और उन पर चलना सुगम होता है।

(२) अथर्ववेद ३।१५।२—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यता क्रीत्वा धनमाहराणि॥

पृथ्वी और आकाश के मध्य देवीय यान जिस किसी मार्ग से चलें उनमें दूध और घृत की व्यवस्था होनी चाहिये जिससे मैं व्यापार से धनोपार्जन कर सकूँ।

हमने इन दोनों वेदमन्त्रों का विशुद्ध शाब्दिक अनुवाद किया है। हम यह स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते कि प्राचीन ग्रन्थों में वायुयानों का उल्लेख है। वे वायुयान किस प्रकार के थे यह तो बताना कठिन है। वस्तु स्थिति से सम्बद्ध साहित्य में पौराणिक दन्त कथाओं का इतना अधिक समावेश है कि दाने से भूसी को हटाया जाना दूभर हो गया है। परन्तु सहज विश्वास जितना बुरा होता है उतना ही बुरा अविश्वास भी होता है। संस्कृत नाटकों में हम पढ़ते हैं कि नारद मुनि किसी यान के द्वारा आकाश से नीचे उतर रहे हैं। कवि कल्पना से सत्य रहस्य के पर्दे में छुप सकता है। कहा जाता है राम लंका से पुष्पक विमान में लौटे थे। यह भी निरी कवि कल्पना समझी जा सकती है। आज का कवि वायुयान का वैसा शुद्ध वर्णन नहीं कर सकता जैसा शिल्पी कर सकता है। कवि लोग अन्ततः कवि ही होते हैं परन्तु उपर्युक्त दोनों वेदमन्त्रों में अविश्वसनीय कोई वस्तु नहीं है।

गृह-निर्माण-कला

सर्वप्रथम उत्पन्न हुए व्यक्तियों का निवास स्थान कुछ काल पर्यन्त गुफाएँ रही होंगी, क्योंकि गृह-निर्माण-कला के विकास में कुछ समय तो अवश्य लगा होगा। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि गुफाओं में रहनेवाले वे व्यक्ति असभ्य थे। गृह-निर्माण-कला में सभ्यता की किंचित् अभिव्यक्ति होती है। सभ्यता और संस्कृति मनुष्य के अन्तरतम से सम्बद्ध होती हैं। भारत और संसार के अन्य देशों के महापुरुष बड़ा सादा और सात्विक जीवन व्यतीत करनेवाले हुए हैं और उन वस्तुओं के प्रति उनका कोई आकर्षण न था जो सभ्य कहे जानेवाले लोगों की आवश्यकताएँ समझी जाती हैं। गृह-निर्माण-कला का काल क्रमागत इतिहास उपलब्ध नहीं होता। परन्तु वेदों में घरों का अत्युत्तम उल्लेख मिलता है। स्वामी दयान्द सरस्वती ने अपनी संस्कार विधि में वेदों के आधार पर एक अध्याय इस विषय पर लिखा है। उस अध्याय के प्रारम्भ के दो वेदमन्त्र[१] ध्यान देने योग्य हैं—

मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावे तो वह सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त, जिसको देखकर विद्वान् लोग सराहना करें। प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार, कोने और कक्षा भी सम्मुख हों। इसके अनन्तर वह शाला चारों ओर के परिमाण से समचौरस हो और उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को ग्रहण करनेवाले हों। उसके बन्धन और चिनाई दृढ़ हों।

(२) उस घर में एक हवन करने के पदार्थ रखने का स्थान,

---

१. **उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।**
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि॥

२. **हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले॥**

—अथर्व० ९।३।१,३

अग्निहोत्र का स्थान, स्त्रियों के रहने का स्थान, पुरुषों और विद्वानों के रहने, बैठने, मेल-मिलाप करने, सभा करने का स्थान तथा स्नान, भोजन, ध्यान आदि का भी पृथक्-पृथक् एक-एक घर बनाया जाना चाहिये। इस प्रकार की दिव्य कमनीय बनाई हुई शाला सुखदायक होती है।

अथर्ववेद के ९वें काण्ड के तीसरे सूक्त में शाला का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है जिससे स्पष्ट है कि शाला के सम्बन्ध में वैदिक भावना बड़ी उन्नत और विकसित थी।

(३) जो दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पूर्व पश्चिम में एक-एक शाला युक्त घर अथवा जिस के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में एक-एक शाला और इनके मध्य में पाँचवीं बड़ी शाला या एक-एक बीच में बड़ी शाला और दो-दो पूर्व पश्चिम तथा एक-एक उत्तर दक्षिण में शाला हों, जो ऐसी शाला बनाई जाती है वह उत्तम होती है, इत्यादि-इत्यादि।

यहाँ साधारण कुटिया से लेकर विशाल भवन तक प्रत्येक प्रकार के घर का उल्लेख है। एक स्थान पर घर की तुलना सुन्दर वधू के साथ की गई है मानो उस स्थान पर मनुष्य को अमित सुख प्राप्त होता है। पारस्कर महोदय ने अपने गृह्यसूत्र में घर को संसार का केन्द्र कहा है। वस्तुतः घर गृह स्वामी के विश्व का केन्द्र होता है। मेरा घर मेरे विश्व का केन्द्र है क्योंकि इसी धुरी के चहुँ ओर मेरे विचार घूमते रहते हैं।

ऋग्वेद के ७वें मण्डल के समूचे ५४वें सूक्त में गृह-निर्माण विद्या का वर्णन किया गया है। यहाँ वास्तोष्पति अर्थात् मुख्य शिल्पी को सम्बोधित किया गया है—

हे वास्तोष्पते!

(५) हमें यह सन्तोष प्रदान कर कि तू हमें रोगों से मुक्त घरों

---

३. **या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।**
अष्टापक्षां दशापक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवाशये॥
—अथर्व० ९।३।११

४. **वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि॥** —अथर्व० ९।३।२४

५. **वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।**
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥
—ऋ० ७।५४।१

का देनेवाला है। कृपया मेरी प्रार्थना स्वीकार कर। तू हमारे दोपायों और चौपायों पर सुख की वर्षा कर।

(६) हमारी गौओं और घोड़ों के लिए सहायक बनकर हमारी श्रीवृद्धि कर। तेरी कृपा से हम स्वास्थ्यप्रद स्थानों में बड़ी वृद्धावस्था तक जियें। हम पर पिता के समान दयालु हो।

(७) हमारे लिए इस प्रकार का घर निर्माण कर जिसमें हम प्रत्येक प्रकार की सुख-सुविधा अनुभव करें। हम पर सुख की वर्षा कर। हम सदैव मंगलकारी पदार्थों से युक्त हों।

पारस्कर गृह्यसूत्र में गृह शिल्पियों की ३ श्रेणियाँ मिलती हैं अर्थात् कर्त्ता, विकर्त्ता और विश्वकर्मा। इस ग्रन्थ की अस्पष्ट व्याख्या होने के कारण मूल की संगति बिठाना कठिन है। फिर भी पूर्वापर के सम्बन्ध से विदित होता है कि इसमें गृह-शिल्पियों की तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं। इसी गृह्यसूत्र में तीन अन्य उच्च राज-कर्मचारियों यथा धाता, विधाता और निधीनां पति का उल्लेख पाया जाता है। यह गृह-निर्माण-कला के साथ किस रूप में सम्बद्ध हैं यह बताना कठिन है। यदि उन दिनों नगरपालिका समितियाँ (Municipal Committees) थीं तो सम्भवत: ये उस समिति के उच्च कर्मचारी होंगे जिनकी उत्तम घरों के निर्माण में सहायता ली जाती होगी।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में[८] घर के विविध सुखों का वर्णन किया गया है—

"हे गृहस्थो! हम तुम्हारे निवास के लिए ऐसा घर बनाते हैं जिसमें सूर्य की किरणें बहुमात्रा में आएँ। इस प्रकार के हवादार घर में दैवीय प्रकाश का उदय हो जिससे तुम मोक्षपद को प्राप्त हो।"

---

६. वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व॥

७. वास्तोष्पते शग्मयः संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

—ऋ० ७।५४।२-३

८. ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥

—ऋ० १।१५४।६

इस मन्त्र में इस बात का संकेत किया गया है कि खुले और हवादार मकान से मनुष्य का आध्यात्मिक विकास भी होता है। ऐसा स्वास्थ्यप्रद मकान ईश-चिन्तन में निरत लोगों के लिए बड़ा उपयुक्त होता है। वेदों में अनेक स्थलों पर घर के लिए दो शब्द 'गृह' और 'दम' प्रयुक्त हुए हैं। 'गृह' शब्द ग्रह धातु से बना है जिसका अर्थ है ग्रहण करना। 'दम' 'दम्' धातु से बना है जिसका अर्थ है नियमित करना। यह दम शब्द यद्यपि वर्तमान संस्कृत में प्रचलित नहीं है तथापि इसने पश्चिम में पहुँचकर लैटिन के डोम (Doma, Domestic) इत्यादि शब्दों का रूप ग्रहण कर लिया है। वैदिक शिक्षा की सुन्दरता इसी में है कि वह भौतिक वातावरण को भी आध्यात्मिकता का पुट लगा देती है। घर केवल ईंटों और पत्थरों से घिरा हुआ स्थान नहीं होता अपितु यह वह स्थान होता है जहाँ परिवार के लोग अपने स्वभावों को सुधारते और एक सीढ़ी के बाद दूसरी सीढ़ी पर चढ़कर जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं।

वेदों में राजाओं और शासकों के सहस्त्रों स्तम्भोंवाले बड़े-बड़े प्रासादों का भी उल्लेख पाया जाता है (ऋग्वेद २।४१।५ देखें) ऋग्वेद ५।६२।६ में लौह स्तम्भों पर बने आकाश में चमकते हुए स्वर्णमण्डित घरों का वर्णन मिलता है।

घरों और महलों के इस वर्णन से विदित होता है कि वैदिक काल में बड़े-बड़े सुरक्षित नगर भी विद्यमान थे। ऋग्वेद ७।३।७ और ७।१५।१४ में हम लोहे की प्राचीरों (दीवारों) से परिवेष्टित नगरों का भी वर्णन पढ़ते हैं।

इससे इस असत्य का सर्वथा खण्डन हो जाता है कि वेद गडरियों के गीत हैं जिनकी रचना आदि कालीन अवनत समाज में हुई थी।

---

९. **राजानावनभिद्रुहाध्रुवे सदस्युत्तमे सहस्त्र स्थूण आसाते॥**

—ऋ० २।४१।५

१०. **अक्रविहस्ता सुकृते परस्पा यं त्रासाथे वरुणेडास्वन्तः।
राजाना क्षत्रमहृणीयमाना सहस्त्र स्थूणं बिभृथः सह द्वौ॥**

—ऋ० ५।६२।६

११. **हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा वि भ्राजते दिव्यश्वाजनीव।
भद्रे क्षेत्रे निमिता तिल्विले वा सनेम मध्वो अधिगर्त्यस्य॥**

—ऋ० ५।६२।७

जाति, वर्ग और समाजवाद

वर्तमान हिन्दू समाज अपनी जाति-भेद की प्रथा के कारण बहुत बदनाम है। कोई समय था जब यह समाज बुद्धि संगत सिद्धान्तों पर आश्रित था और यह पद्धति वर्ण व्यवस्था कही जाती थी। इस समय कोई व्यवस्था नहीं है। अब तो इसका ढाँचा मात्र शेष रह गया है। हमारा आज का हिन्दू समाज बहुसंख्यक जातियों और उपजातियों में बँटा हुआ है जिनको वेदों का तनिक भी समर्थन प्राप्त नहीं है। मनमाने ढंग से हुए इस प्रकार के विभाजन का परिणाम अशान्ति के सिवा और कुछ नहीं हुआ करता।

हमने किसी अन्य स्थल पर बतलाया था कि विविध प्रकार के व्यक्तियों की तात्त्विक शक्तियाँ, प्रवृत्तियाँ और महत्त्वाकांक्षाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती हैं और उनकी जीवन प्रणालियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। उनमें बलात् समता उत्पन्न करने के यत्नों का कोई फल नहीं होता। हमारे प्रारम्भ स्थान भिन्न होते हैं। अपने कार्य क्षेत्र में हमें विभिन्नता की आवश्यकता हुआ करती है। एक ही मार्ग पर चलते हुए हमारी गति भी एक जैसी नहीं होती। अपनी सामाजिक स्थिति के कारण हम ऐसा आचरण करने के लिए बाध्य होते हैं जिससे समस्त समाज के हित की सिद्धि हो सके। इसीलिए वेद में मनुष्य के ४ प्रकार के वर्गीकरण का प्रतिपादन किया है।[१] उस वर्गीकरण के अनुसार समाज का मुख ब्राह्मण, भुजाएँ क्षत्रिय, जङ्घाएँ वैश्य और पैर शूद्र माने जाते हैं।

---

१. यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥

२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

—ऋ० १०।९०।११।१२

वर्ण-व्यवस्था के 'वर्ण' शब्द के अर्थ से बड़ा भ्रम फैला है। साधारणतः वर्ण का अर्थ रंग होता है। इस अर्थ के आधार पर कुछ लोगों ने वर्ण-व्यवस्था के रूप में समाज के वर्गीकरण को रङ्ग-भेद पर आश्रित माना है। उन्होंने अपनी इस मान्यता के समर्थन में कहा है कि आर्य लोग गौर वर्ण के और शूद्र कहे जानेवाले भारत के मूल निवासी श्यामवर्ण के थे इसीलिए वे हेय दृष्टि से देखे जाते और दास बना लिए गए थे। यदि इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय तो समाज के श्याम और गौर ये दो विभाग होने चाहिएँ। मुख, भुजाओं, जंघाओं और पैरों के रूप में शरीर का विभाजन किसी प्रकार भी रंग पर अवलम्बित नहीं हो सका।

तुम सिर से लेकर पैरों तक देख जाओ। शरीर के सब अवयवों का रंग एक जैसा ही दिखाई देगा। इससे स्पष्ट है कि रङ्ग का सिद्धान्त रंग-भेद के पक्षपातियों की कपोल कल्पना है। 'वर्ण' शब्द संस्कृत को 'वृ' धातु से बना है। जिसका अर्थ है 'चुनना'। जो 'वरण' किया जाता है वह वर्ण कहलाता है। स्थूल रूप से वर्ण का अभिप्राय व्यवसाय होता है। व्यवसाय का यह सिद्धान्त दो बातों पर अवलम्बित है। एक तो यह कि समाज को ऐसी बहुत-सी वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनकी पूर्ति अकेला एक व्यक्ति उत्तमता से नहीं कर सकता। दूसरी यह कि प्रत्येक व्यक्ति में अपनी कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं। यदि उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो वह उन प्रवृत्तियों का अनुसरण करने लग जाता है प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई ऐसा काम कर सकता है जिससे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। समाज प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार काम चुनने की स्वतन्त्रता देता है परन्तु वह अकर्मण्यतया को सहन नहीं करता। सामाजिक आवश्यकताएँ निम्न तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकती हैं—

(१) शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति।
(२) अन्यों के अनुचित हस्ताक्षेप से रक्षा।
(३) बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षुधा की सन्तुष्टि।

व्यष्टि रूप से प्रत्येक मनुष्य को और समष्टि रूप से समाज

को इन तीन वस्तुओं की आवश्यकता हुआ करती है। परन्तु अकेले किसी व्यक्ति से ये तीनों काम पूरे नहीं हो सकते। इसलिए श्रम-विभाजन आवश्यक होता है वैदिक काल में प्रथा यह थी कि जब मनुष्य वयस्क हो जाता था और उसकी मानसिक अवस्था ठीक होती थी तो उसे अपनी रुचि के अनुसार काम चुनने की प्रेरणा की जाती थी। उस समय यह देखा जाता था कि क्या वह समाज के साम्पत्तिक उत्थान में योग देने का कार्य पसन्द करता है। क्या उसे अन्नोत्पादन और पशु पालन का कार्य पसन्द है? क्या उसकी रुचि वस्त्र बुनने, शिल्प का काम करने और एक स्थान से दूसरे स्थान तक उन वस्तुओं के पहुँचाने में है जो वहाँ उत्पन्न न होती हों? यदि उसकी रुचि इन सब कामों में पाई जाती हो तो वह वैश्य कहलाएगा। यदि वह शक्ति और कीर्ति का प्रेमी है तो वह आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य आक्रमणों से समाज की रक्षा का कार्य चुन सकता है। तब वह क्षत्रिय (रक्षक) कहलाएगा। क्षत्रिय का धात्वर्थ है रक्षा करनेवाला (क्षतात् त्रायते इति) यदि उसकी रुचियाँ अधिक परिमार्जित हुईं तो वह ज्ञान सम्पदा में वृद्धि करने का कार्य चुन सकता है। उस अवस्था में वह ब्राह्मण वा विद्वान् कहलाएगा। यदि कोई मनुष्य इतना मन्दबुद्धि हो कि वह अपने लिए कोई काम चुन सकता हो तो उसे अकर्मण्यता का जीवन व्यतीत करने की अनुमति न मिलेगी। आलस्य समाज का शत्रु होता है। समाज उसे उन लोगों के आदेश पर शारीरिक परिश्रम करने के लिए बाध्य करता है जो उसके लिए काम का चुनाव और उसका मार्ग-प्रदर्शन कर सकते हैं। वह शूद्र वा अभागा होता है। परन्तु यह अवस्था उस पर बलात् नहीं लादी जाती। समाज उसे शूद्र बनने के लिये विवश नहीं करता अपितु अपनी दुर्बलता वा अकर्मण्यता के कारण उच्च कार्य न चुनने से ही वह शूद्र बनता है। इतना होते हुए भी समाज उसका परित्याग नहीं करता। वह समाज का सदस्य बना रहता है। वस्तुतः समाज न उसकी उपेक्षा करता है और न उसे अकर्मण्य बनने देता है। ऐसा करके समाज उसका और अपना दोनों का महान् उपकार करता है। उच्च वर्ग के लोगों के सम्पर्क में आने से वह उनकी महत्वाकांक्षाओं को अपने जीवन में धारण करना सीखता है।

हमारी सम्मति में यह न्याय संगत और उचित है। यह पृथक् करण नहीं अपितु संगति करण है।

यजुर्वेद में वर्णित शरीर के चार अङ्गों की उपमा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शिर उसी समय तक शिर रहता है जब तक वह शरीर के प्रत्येक अवयव के हित की रक्षा करता है। जहाँ तक शिर के कामों का सम्बन्ध है, शरीर से पृथक् हुआ शिर, शिर नहीं रहता। इसी प्रकार यदि ब्राह्मण के हाथ से समस्त शरीर के हित सुरक्षित न रहे तो वह ब्राह्मण नहीं रहता। शिर के द्वारा उपार्जित होनेवाला ज्ञान केवल शिर का नहीं अपितु समस्त शरीर का होता है। आँख इस बात का ध्यान नहीं रखती कि पैर फिसल न जाय। कान इसलिए सुनते हैं कि हाथ से भूल न हो जाय। इस प्रकार यजुर्वेद की उपमा से पृथक्ता की जरा भी गन्ध नहीं आती। ब्राह्मणों, क्षत्रियों और शूद्रों में प्रचलित वर्तमान वर्ग-भेद वैदिक शिक्षाओं पर नहीं अपितु अज्ञान पर आश्रित है।

वैदिक साहित्य के गहन अध्ययन और मनन से एक और बात स्पष्ट होती है। हमें उसमें चार वर्णों के कर्त्तव्यों का ही उल्लेख मिलता है उनके विशिष्ट अधिकारों का नहीं। यदि कहीं उनका उल्लेख मिलता भी है तो नाम मात्र को, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार राज्य व्यवस्था में गवर्नरों के कर्त्तव्यों का विस्तृत विवरण दिया जाता है उनके व्यक्तिगत वेतनादि का नहीं। उनका उल्लेख हिसाब के रजिस्टरों (पंजिका) तक ही सीमित होता है। जिन लोगों की यह धारणा है कि वैदिक साहित्य पर ब्राह्मणों का आधिपत्य है वे उन लोगों की तरह यह सोचने की भूल करते हैं कि शरीर पर आँख, कान वा मस्तिष्क का अधिकार होता है। अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, कराना और दान लेना और देना ये ब्राह्मणों के कर्त्तव्य बतलाये गये हैं। दान को लेने और देने का अधिकार महत्त्व की दृष्टि से अन्त में रखा गया है। इतना ही नहीं अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि ब्राह्मण को लोभी न होना चाहिये। मुख के द्वारा ही वस्तुएँ खाई जाती हैं। परन्तु मुख स्वयं कुछ नहीं खाता। मुख का मुख्योद्देश्य शरीर की रक्षा करना होता है। इसी प्रकार ब्राह्मण दान का ग्रहण तो करता है परन्तु सच्चा ब्राह्मण उसे अपने व्यक्तिगत

प्रयोगों के लिए कभी ग्रहण नहीं करता। लोभी ब्राह्मण अपनी मर्यादा से पतित हो जाता है। यही बात अन्य वर्णों पर चरितार्थ होती है। क्षत्रिय का कर्त्तव्य अपनी और अपने साथ अन्य तीन वर्णों की रक्षा करना होता है। ऐसा न करने से वह अपने पद से गिर जाता है। दूसरों के दान पर पलना ब्राह्मण को शोभा नहीं देता। अपने आत्म त्याग के उदाहरण से संसार के मार्ग-प्रदर्शन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना बहुत कठिन काम होता है। जिस शिक्षा संचालक के पद-काल में देश के अधिकांश निवासी अशिक्षित बने रहें वह उत्तम संचालक नहीं समझा जाता। इसी प्रकार यदि वर्तमान हिन्दू समाज जैसे समाज के अधिकांश सदस्य अज्ञानी और अशिक्षित हों तो समझ लेना चाहिये कि उस समाज में ब्राह्मणों का अभाव है या उसके ब्राह्मण प्रपंची हैं। यदि कोई शिक्षक उत्तम शिक्षा न दे और मार्ग-दर्शक सन्मार्ग न दिखाए तो वे दोनों समाज पर भार बन जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों के जीवन, उनकी सम्पत्ति और सम्मान की रक्षा न करनेवाले शासक (क्षत्रिय) वर्ग की कोई उपयोगिता नहीं होती। वैदिक मर्यादा के अनुसार सम्पत्ति का उत्पादन, विभाजन, रक्षण और उसके द्वारा प्रजा का पालन वैश्य के कर्त्तव्य होते हैं। उन्हें धन पर एकाधिकार करने वा उसका मनमाना उपयोग करने की अनुमति नहीं होती। व्यापार व्यवसाय विषयक १२वें अध्याय में हमने स्पष्ट किया था कि ऋग्वेद में समाज का रक्त चूसकर धन एकत्र करनेवाले पणियों या व्यावसायिक भेड़ियों की घोर निन्दा की गई है। ऋग्वेद ६।५१।१४, ६।५३।३, १०।९०।११-१२ और यजुर्वेद ३१।१०-११ के मन्त्रों से जो इस अध्याय के प्रारम्भ में उद्धृत किये गए हैं स्पष्ट है कि शरीर के चार अवयवों की उपमा समाज के सदस्यों की जन्मगत विशेषता पर नहीं अपितु उनकी व्यवसायिक योग्यता पर निर्भर होती है। यदि मनुष्य के जन्माधिकार को महत्त्व न दिया और उसे पैतृक व्यवसाय को अपनाने के लिए विवश न किया जाय तो वैदिक समाजशास्त्र के अनुसार जातिभेद का प्रश्न नहीं उठ सकता। हिन्दुओं का वर्तमान जाति-भेद अवैदिक है और वह पतनोन्मुख है। अपनी बिरादरी में ही रोटी-बेटी का व्यवहार करने की प्रथा भी धीरे-धीरे नष्ट हो

रही है। आजकल सहभोज की प्रथा तो एक साधारण बात बन गई है। अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचलन बढ़ रहा है। इस प्रकार जन्मगत जाति-भेद के बन्धन ढीले हो रहे हैं। वास्तव में इस अवैदिक प्रथा की यही दशा होनी चाहिए। ऋग्वेद में ऐसे परिवार की कल्पना की गई है जिसके सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसाय में लगे होते हैं। इस प्रकार के परिवार का किसी जाति विशेष के साथ सम्बन्ध नहीं होता। वैदिक वर्ण-व्यवस्था की भावना उदार थी संकुचित नहीं। वर्णों की सामयिक उपयोगिता होती है। यदि किसी परिवार में ४ सदस्य हों और उनमें से एक याज्ञिक, दूसरा सैनिक, तीसरा तन्तुवाय और चौथा वैश्य हो तो प्रत्येक अपने व्यवसाय के संचालन के लिए दिन में किसी समय किसी स्थान पर अपने व्यवसायवालों से मिलेगा और वे चारों रात में घर पर एकत्र होंगे। उनके वर्गीय हित सीमित होते हैं। यही बात वर्ण-व्यवस्था पर चरितार्थ होती है। प्रत्येक वर्ग का केवल व्यवसायिक महत्त्व होता है इसलिए वैदिक वर्ण-व्यवस्था में वर्ग-संघर्ष की आशंका नहीं हो सकती। वेदों में आर्यों और दस्युओं के संघर्ष का उल्लेख मिलता है परन्तु यह संघर्ष उस वर्ग-विद्वेष से सर्वथा भिन्न है जिसका वर्तमान युग के साम्यवाद और समाजवाद के साहित्य में उल्लेख मिलता है।

प्राचीन आर्य सच्चे साम्यवाद और समाजवाद की भावना से अनुप्राणित थे। इस पर भी वे अपने क्षेत्र की सीमाओं से भली-भाँति परिचित थे। जहाँ तक उन्नति के अवसरों का सम्बन्ध है वे समानता के पक्षपोषक थे। उस समय कोई भी उन्नति के अवसरों से वंचित न किया जाता था। समाज किसी व्यक्ति की उन्नति के मार्ग में बाधा उपस्थित न करता था। जीवन के सब द्वार मनुष्य के लिये खुले होते थे। यह थी उस समय के साम्यवाद की रूप-रेखा और भावना। ''प्रत्येक व्यक्ति से उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम लो और उसकी आवश्यकतानुसार उसको पारिश्रमिक दो'' समाजवादियों की यह उक्ति तीन मुख्य आश्रमों पर पूर्णतया चरितार्थ होती थी। जिस प्रकार परिवार के प्रत्येक बच्चे से हम आशा करते हैं कि वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार काम करेगा और उसकी आवश्यकतानुसार उसे भोजनादि देते हैं उसी प्रकार उन दिनों ब्रह्मचारियों को भोजन,

वस्त्र और पुस्तकें आदि देकर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती थी। समस्त विद्यार्थियों के साथ गरीब-अमीर के भेद-भाव से शून्य समानता का व्यवहार किया जाता था। ब्रह्मचारियों को यह अनुभव न होने दिया जाता था कि वे धनवान् के पुत्र हैं वा निर्धन के। इसी प्रकार वानप्रस्थियों और संन्यासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती थी। वे भी समाज सेवा में संलग्न रहते और समाज के लिए उत्तमोत्तम कार्य करते थे। परन्तु गृहस्थों के साथ भिन्न प्रकार का व्यवहार होता था। कार्लमार्क्स, लेनिन और स्टालिन का समाजवाद गृहस्थियों के लिये अनुकूल नहीं है। उस समाजवाद से उनमें कार्य को प्रारम्भ करने की योग्यता नहीं आती। प्रत्येक व्यक्ति से उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम लेने का सिद्धान्त जितना आकर्षक है उतना व्यवहार्य नहीं है। स्थूल श्रम के सम्बन्ध में तो यह जाना जा सकता है कि कोई मनुष्य कितना काम कर सकता है परन्तु सूक्ष्म श्रम के सम्बन्ध में यह जानना असम्भव है। तुम कह सकते हो कि अमुक मनुष्य कितने घड़े पानी ला सकता है, कितने मन लकड़ी काट सकता है परन्तु कई कार्य इस प्रकार के होते हैं जिनमें स्वत: प्रेरणा की आवश्यकता होती है और इच्छाशक्ति की प्रक्रियाओं का जान लेना असम्भव होता है। जिस समय सोवियत रूस ने १९१७ में रूस के सामाजिक जीवन का कायाकल्प आरम्भ किया था उस समय उसके नेताओं ने बाद में आनेवाली कठिनाइयों का पूर्व से अनुमान न लगाया था।

उन दिनों लोग उत्साह में अन्धे हो रहे थे। पागलपन की बाढ़ में प्रत्येक वस्तु बही जा रही थी। इतना ही नहीं सब पेटों को एकाकार करने की चेष्टा की जा रही थी। यह अवस्था अवांच्छनीय और अशोभन तो थी, किन्तु असम्भव न थी। सोवियत जनतन्त्र के प्रारम्भिक युग में काम के अनुपात से दिये जानेवाले पारिश्रमिक की राशियों में तुलनात्मक दृष्टि से नाम मात्र का अन्तर था।

परन्तु सब व्यक्ति समान मात्रा में काम करें, ऐसी व्यवस्था करना सरल न था। समय की गति के साथ-साथ सोवियत नेता इस परीक्षण के परिमाणों से विवश होते गये और अन्त में उन्हें कार्यकर्मियों के काम के अनुपात से पारिश्रमिक देने का नियम बनाने

के लिये विवश होना पड़ा। १९४२ में ट्रेड यूनियन काँग्रेस के छठे अधिवेशन ने यह घोषणा की कि वैयक्तिक काम के परिमाण और गतिवृद्धि के लिए उत्साहवर्द्धक पारिश्रमिक दिया जाना आवश्यक है। १९३१ में स्टालिन ने घोषणा की कि "बहुसंख्यक व्यवसायों में पारिश्रमिक की दृष्टि से अनुभवी और अनाड़ी कार्यकर्त्ता में कोई भेद नहीं रहता। इसीलिए उनमें अपने को कार्य कुशल बनाने का न भाव उत्पन्न होता है और न उन्हें अपने सुधार की प्रेरणा मिलती है।" इसका स्पष्ट अभिप्राय यह था कि सोवियत रूस को अपने उपर्युक्त सिद्धान्त में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव हुई, आगे इसका यह रूप निश्चित किया गया कि प्रत्येक से उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम लिया जाय और उसको काम के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाय।" प्राचीन वैदिक साम्यवाद और वर्ण-व्यवस्था में एक बात बड़ी विलक्षण है। इसमें ब्राह्मणों, क्षत्रियों और शूद्रों के लिए सम्पत्ति के स्वामित्व की कल्पना नहीं की गई है। सम्पत्ति के तनिक से स्वामित्व से भी उनकी सामाजिक सेवाओं का महत्त्व घट जाता है। ब्राह्मणों द्वारा समाज को दी जानेवाली ज्ञान सम्पदा अमूल्य होती और उसकी तुलना में भौतिक सम्पदा नगण्य होती है। ब्राह्मणों के इस ऋण से समाज सर्वथा उऋण नहीं होता। उनकी बात जाने दीजिये। किसी विज्ञान-वेत्ता को ले लीजिये। उसके अनुसन्धानों और आविष्कारों का भी समाज पूरा-पूरा बदला नहीं चुका सकता। विलासमय जीवन से बचने के लिए स्वेच्छापूर्वक निर्धनता का जीवन व्यतीत करना, ब्राह्मण के लिये आवश्यक ठहराया गया है। बड़े-बड़े विशाल भवनों वा सम्पत्ति का स्वामी बनना उसको शोभा नहीं देता। इससे वह समाज की दृष्टि में गिर जाता है। इस रीति से समाज हित में ब्राह्मण का योग अधिक से अधिक और उसका बोझ कम से कम होता है। किसी राजनियम से विवश होकर नहीं अपितु अपने अन्तस्तल की प्रेरणा से ही वह ऐसा करता है। कार्लमार्क्स, हीगल वा लेनिन के सम्पत्ति-शास्त्र से यह बात सम्भव नहीं हो सकती। इसी भाँति क्षत्रिय लोग प्रजा की रक्षा के प्रहरी होते हैं। उन पर शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने की उत्तरदायिता होती है। दुष्टों का दमन और सज्जनों का रक्षण

करना उनका एक आवश्यक कर्त्तव्य होता है। ब्राह्मणों के समान उनका भी सम्पत्ति का स्वामित्त्व स्वीकार नहीं किया गया है। वे राज्य के संचालक होते हैं और जब तक वे राज्य की सेवा करते रहते हैं तब तक राज्य के व्यय पर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है। वैदिक समाज उद्योग-धन्धों और व्यापार के उस प्रकार राष्ट्रीयकरण का पक्षपाती नहीं है जैसा आजकल हो रहा है। उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण का अर्थ है राज्य का औद्योगिक और व्यापारिक संघों में और शासकों का व्यापारियों में परिणत हो जाना। उस अवस्था में व्यापारिक अत्याचार को कौन दण्डित कर सकेगा? व्यक्तियों के समान ही व्यापार संघ भी अत्याचारी हो सकते हैं। इन लोगों के हाथ में शासनाधिकार होने से बुराइयों की रोकथाम कठिन हो जाती है। समस्त उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर व्यक्तियों की व्यापारिक प्रवृत्ति कुण्ठित हो जाती है, और इसके परिणाम स्वरूप समाज की हानि होती है। वर्ण विपर्यय (गड़बड़) के परिणाम बड़े दुःखद होते हैं। अतएव उद्योग-धन्धे क्षत्रियों के हाथ में न सौंपें जाने चाहिएँ। उनका कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे धनवानों पर नियन्त्रण रखें और उन्हें सीमा के बाहर न जाने दें। इस प्रसङ्ग में दो उदाहरण उल्लेखनीय हैं। भारत ब्रिटिश सरकार का दो वस्तुओं पर आधिपत्य था। एक अफीम जिस पर सरकार का एकाधिकार था और दूसरा आबकारी जिसका टैक्स द्वारा नियन्त्रण होता था। दोनों ही आय के साधन थे इसलिए इनके आर्थिक पहलू की तुलना में नैतिक पहलू की सदैव उपेक्षा होती रही। यह स्वाभाविक था। इसकी रोकथाम नहीं हो सकती। जब कभी परिस्थितियों से विवश होकर सरकार खाद्य पदार्थों वा वस्त्रों का कृत्रिम नियन्त्रण करती है तो अपने आदेशों का पालन कराने के लिए उसे बहुत से लेखक और निरीक्षक नियुक्त करने पड़ते हैं। थोड़े समय में ही इन कर्मचारियों की स्वार्थ भावना प्रबल हो जाती है और जब सार्वजनिक हित की दृष्टि से नियन्त्रण हटाने की आवश्यकता होती है तो ये ही कर्मचारी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से बाधा उपस्थित करते हैं। प्राचीन वैदिक राजनीति ने क्षत्रियों को आर्थिक भावनाओं से ऊपर रहने की प्रेरणा की थी। उन लोगों की

दृष्टि में धन की अपेक्षा कीर्ति वा वर्चस् का अधिक सम्मान था। आज तीन या चार हजार रुपया पानेवाला न्यायाधीश करोड़पति को दण्ड देता है। यदि वह आर्थिक भावनाओं से ऊपर न हो तो वह ऐसा कदापि नहीं कर सकता, इसलिए धन उत्पन्न करनेवाला वर्ग शासक वर्ग से पृथक् और उसके आधीन रखा गया है। कार्लमार्क्स, लेनिन वा स्टैलिन के समाजवाद के लक्ष्य में पूंजीपतियों का अन्त करना है। यह कार्य कठिन नहीं है, परन्तु इससे पूंजीवाद का अन्त कभी नहीं हो सकता। एक पूंजीपति को फ़ाँसी के तख्ते पर लटका देने से तो पूंजीवाद का अन्त नहीं हो सकता। अकेला रूस ही ऐसा देश है जो अपनी समाजवाद विषयक सफलताओं की डींग मारता है परन्तु वह भी साम्यवाद में उचित सन्तुलन स्थिर रखने में बुरी तरह असफल रहा है। इसने वर्तमान शताब्दि की दूसरी और तीसरी दशाब्दियों में जो असफलताएँ प्राप्त की थीं वे जनतन्त्रीय साम्यवाद के कारण नहीं अपितु समाजवादी तानाशाही के कारण प्राप्त हुई थी जिसका राजसत्ता पर एकाधिपत्य था। रूसवासियों को इस सफलताओं के लिए बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा था, और सबसे निर्मम हत्या सत्य की हुई थी। जनसाधारण क्रान्ति के लिए उत्तेजित किए गए। बिना क्रान्ति के पूंजीवाद का अन्त सम्भव नहीं होता और बिना आन्तरिक विध्वंस के क्रान्ति सम्भव नहीं होती। रूस में आन्तरिक विध्वंस की प्रक्रिया का लगभग एक शताब्दि पर्यन्त प्रचार और व्यवहार होता रहा जिसकी गति कभी मन्द रही कभी उग्र और कभी कम सफलता मिली और कभी अधिक। अन्तिम तीन दशाब्दियों में रूस के निवासी इस का उच्च स्वर में प्रचार करते रहे थे। उनके गुप्तचर प्रायः प्रत्येक देश में पाये जाते हैं और वे वहाँ पञ्चमांगियों (भेदियों) के रूप में काम करते हैं। आन्तरिक विध्वंस उनकी रीति-नीति है। विदेशीय शासन के विरुद्ध होनेवाली क्रान्ति का अभिप्राय समझ में आ सकता है। जनसाधारण की जो प्रवृत्तियाँ लगभग एक सौ वर्ष तक आन्तरिक विनाश में लगी रही हों उनके दुष्परिणामों की सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार के प्रचार का औचित्य कुछ भी क्यों न हो परन्तु इस के पक्ष में जो हेतु प्रस्तुत किए जाते हैं वे थोथे होते हैं। एक बार का बना हुआ

स्वभाव कठिनता से जाता है। राष्ट्रीय जीवन में जो आदतें घर कर जाती हैं चिरकाल पर्यन्त बनी रहती है। समाजवाद की रट लगानेवाले इस बात पर उचित ध्यान नहीं देते कि शक्ति लोलुपता धन लोलुपता के समान ही अन्याय का स्रोत होती है। सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली में जिनके हाथ में शासन की बागडोर होती है वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए देश के वाणिज्य व्यवसाय और राजसत्ता पर चिरकाल पर्यन्त प्रभुत्व बनाये रखने का प्रयास करते रहते हैं। बर्ले और मीन्स ने ठीक कहा है कि प्राइवेट उद्योग-धन्धों में यद्यपि कम्पनियों के डायरेक्टरों का बहुत थोड़े स्टाक (माल) पर अधिकार होता है तथापि वे ही कम्पनी के सर्वे सर्वा होते और अपनी शक्ति के संरक्षण और संवर्द्धन में निरन्तर रत रहते हैं। इसी प्रकार बर्टरैंड रसेल के मतानुसार "जिन लोगों के अधिकार में आर्थिकसत्ता होती है वै भव्य भवनों में निवास करते, सर्वोत्तम मोटरों का प्रयोग करते, राजोचित दावतों (भोजों) का उपवेतन लेते हैं। सार्वजनिक व्यय पर मनोरम स्थानों में छुटियाँ मनाते हैं। आनन्द यह है कि उन भवनों, मोटरों और विलास की सामग्री पर उनका नहीं अपितु प्रजा का स्वामित्व होता है। ऐसी अवस्था में साधारण कर्मचारी पर उनका ध्यान क्यों कर जा सकता है" (Social Economic movements by Laidler. P. 451) लेडलर कृत सामाजिक नार्थिक आन्दोलन पृ० ४५१।

इस प्रकार समाजवादियों की सब रोगों को हरनेवाली एक मात्र औषधि रोग से भी अधिक भयंकर और घातक है। सोवियत रूस के एक सरकारी प्रवक्ता ने एक बार हिसाब लगाकर कहा था कि रूस की तानाशाही की आवश्यकता आगामी दो या तीन पीढ़ियों को भी होगी।

इस पर हीमेन (Heimann) ने बुकारींन (Bukharin) के लेख को उद्धृत करते हुए लिखा "यदि इस गणना में रूस की तानाशाही के गत वर्षों को जोड़ दिया जाय तो योग लगभग एक शताब्दि होगा और १९१४ के महासमर के छिड़ने तक पूंजीवाद बी लगभग इतने समय तक ही फूला-फला था" (Edward Heimann in Communism Facism or Democracy P. 141-3) हीमेन कृत

समाजवाद, फैसिज्म वा प्रजातन्त्रवाद।

प्रश्न उपस्थित होता है कि इन त्रुटियों का सुधार किस प्रकार हो सकता है ? श्रीयुत रसेल महोदय की सम्मति में इसका एकमात्र उपाय राजनैतिक प्रजातन्त्र के स्थान में विशुद्ध प्रजातन्त्र का अवलम्बन है जो प्रचार की स्वतन्त्रता से युक्त और सरकारी अत्याचार से मुक्त हो (Vide Russel's Power. A new Social Analysis P. P. 302-3) रसेल कृत शक्ति, एक नूतन सामाजिक विश्लेषण पृ० ३०२-३)।

यह है विशुद्ध राजनैतिक प्रजातन्त्र की असफलता की स्पष्ट स्वकारोक्ति! सत्य यह है कि दोष शासन के स्वरूप का नहीं प्रत्युत जीवन के भौतिक दृष्टिकोण का होता है। वैदिक काल में चातुर्वर्ण्य पर न केवल राज्य का बाह्य शासन ही था अपितु वे आध्यात्मिक पृष्ठभूमि की आन्तरिक महत्ता पर भी आश्रित थे। राज्यसत्ता का महत्त्व होता था परन्तु गौण, वास्तविक प्रेरणा तो भीतर से मिला करती है। प्रत्येक व्यक्ति जीविकोपार्जन में व्यस्त रहता हुआ भी अपनी आध्यात्मिक आवश्यकताओं के प्रति सजग रहता और नाना प्रकार के प्रलोभनों के चंगुल में फँसने से बचता रहता था। अपराधियों को भी अपने अपराध का ज्ञान रहता था। इसका फल यह होता था कि उनका दुर्व्यवहार सीमा का अतिक्रमण न कर पाता था। परन्तु भौतिक वातावरण की अवस्था ही भिन्न होती है। धर्म-अधर्म का भेद मिट जाने से व्यक्ति अपराध करते और प्रसन्न होते हैं। साधनों का औचित्य उद्देश्यों से प्रतिपादित हुआ करता है। प्रलोभनों के आवरण में छिपकर उद्देश्य भी आँखों से ओझल हो जाया करते हैं। असद् व्यवहार की प्रक्रिया धीमी और सूक्ष्म होती है। 'घोर शत्रु' को मिटा दो यह प्रथम अपवाद है। इसके बाद 'घोर शत्रु' की परिभाषा विस्तृत हो जाती और साधारण-सी उत्तेजना मिलने पर हत्या का औचित्य सिद्ध किया जाने लगता है। सब से पहले अनिवार्य आवश्यकतावश पशु मारे जाते हैं। बाद में मनोरंजन के लिए और इसके पश्चात् बिना सोच-विचार के ऐसी जातियाँ हैं जो न मनुष्यों के जीवन का आदर करती हैं और न पशुओं के। इसी प्रकार उनमें सत्य और सत्य निष्ठा के लिए भी आदर भावना नहीं

रहती। आज प्रेम और युद्ध के नाम पर असत्य के प्रचार को खुली छुट दी जा रही है। वर्तमान जगत् ने इस सूची में 'निर्वाचनों' को भी सम्मिलित कर दिया है। ह्रास की प्रक्रिया जब एक बार प्रारम्भ हो जाती है तो उसका रोकना बड़ा कठिन हो जाता है। समाजवाद और साम्यवाद के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हो रहा है। निस्सन्देह इन 'वादों' के सूत्रधारों के उद्देश्य उत्तम और प्रशस्त थे। वे निःस्पृह भी थे। वे समूचे मानव समाज के हित की भावना से प्रेरित भी थे। परन्तु इन्होंने मिथ्या सिद्धान्तों का समर्थन करके संसार को असत्य मार्ग पर डाल दिया है।

इन सिद्धान्तों के व्याख्याकार कह सकते हैं कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था का आदि स्वरूप शुद्ध और पवित्र था फिर भी वह अपने इस स्वरूप की रक्षा न कर सकी और हिन्दू जाति में व्याप्त वर्तमान भयंकर जाति-भेद में विकृत हो गई। यह भी कहा जा सकता है कि भारत से बाहर इसके नष्ट होने में देर न लगी और संसार एक भयंकर विनाश से बच गया। इस युक्ति में बल है यह हम स्वीकार करते हैं, परन्तु सर्वांश में नहीं। इस प्रथा के विकृत होने में कोई सन्देह नहीं है। कोई भी मानवीय व्यवस्था विकृति की संभावनाओं से शून्य नहीं हो सकती। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि जाति-भेद के कट्टरपन से हिन्दू समाज का बड़ा अहित हुआ है। परन्तु दो बातें विचारणीय हैं। वैदिक वर्ण-व्यवस्था का लोप हो जाने से भारत या उसके बाहर जो हानि हुई है उसकी पूर्ति किसी अन्य विकल्प से नहीं हो सकी है। दूसरे यह कि विकृत हिन्दू समाज ने जितनी उत्तमता से सामाजिक बवण्डरों का सामना किया है उतनी उत्तमता से अन्य कोई अभारतीय व्यवस्था नहीं कर सकी है। यदि सच पूछा जाय तो बाह्य जगत् में कभी कोई व्यवस्था ही नहीं रही। यूरोप, एशिया आस्ट्रेलिया और अमेरिका आदि देशों के इतिहास के अनुशीलन से विदित होता है कि वे युगों पर्यन्त बिना पतवार की नाव के समान इधर-उधर भटकते रहे हैं। इन पंक्तियों के लिखने का उद्देश्य जाति-भेद की प्रथा का समर्थन करना कदापि नहीं है। हम त्रुटियों के सुधार के लिए समुत्सुक हैं परन्तु जो औषधि पश्चिम से आ रही है वह निर्दोष नहीं है। समाजवादी रूस के १९१७ से

१९४८ तक के इतिहास से स्पष्ट है कि समाजवाद के सूत्रधारों ने अपने सिद्धान्तों का अनुमान लगाने में पग-पग पर भूल की थी। रूस की १९१७ की राज्य-क्रान्ति की सफलता का मुख्य कारण रूसी समाज में व्याप्त भयंकर त्रुटियाँ थीं न कि समाजवादी विकल्प की ग्राह्यता। समाजवाद इस समय तक जिस मार्ग पर चलता रहा है वह सीधा नहीं है। वह चक्राकार होता जा रहा है और न जाने उसका अन्त कहाँ होगा। भारतवर्ष धीरे-धीरे समाजवादी बन रहा है। नवयुवक इसकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं। परन्तु समाजवाद पिछली शताब्दि के ४०वें वर्ष में जिस भावना से अनुप्राणित था वह नष्ट हो चुकी है। इसका उत्तम पहलू लुप्त होकर निकृष्ट पहलू शेष रह गया है। सम्पत्तिवाद आज भी अभिमान से शिर ऊँचा किये हुए है। प्राचीनकाल में स्वार्थ भावना एक कमजोरी मानी जाती थी। प्राचीन रोगों का अन्त नहीं हुआ है और नये रोगों का प्रादुर्भाव हो रहा है। चिकित्सा भयंकर रूप धारण कर रही है और रोगग्रस्त जीवन खतरे में है। अब एक मात्र उपाय यही है कि हमारे समाज विज्ञान की पृष्ठभूमि वैदिक संस्कृति बने। वैदिक राजनीति का सम्यक् अध्ययन किया जाय और अपने जीवन को उसके साँचे में ढाला जाय।

(१५)

परिवार

वैदिक समाज विज्ञान की प्रारम्भिक इकाई परिवार होता है जो व्यक्ति और समाज के मध्य कड़ी का काम करता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने परिवार के सदस्यों के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में संस्कार विधि में निम्नाङ्कित मन्त्रों को उद्धृत किया है—

(१) मैं तुमको समान हृदयवाला बनाता हूँ। मैं तुम्हें विद्वेष से मुक्त करता हूँ। तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार गाय अपने नवजात बच्चे से प्रेम करती है।

(२) पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता के साथ प्रीतियुक्त मनवाला हो। पत्नी अपने पति के साथ मधुर भाषण करनेवाली हो।

(३) भाई भाई के साथ और बहिन बहिन के साथ द्वेष न करे। भाई बहिन भी परस्पर में द्वेष न करें। वे सब मङ्गलकारक रीति से एक दूसरे के साथ सुखदायक प्रेमपूर्वक संभाषण किया करें।

(४) जिस प्रकार के व्यवहार से विद्वान् लोग परस्पर पृथक् भाववाले नहीं होते और परस्पर में कभी द्वेष नहीं करते, मैं उसी व्यवहार को तुम्हारे घर के लिए निश्चित करता हूँ। तुम लोग परस्पर में प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते हुए धनैश्वर्य को प्राप्त होओ।

---

१. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

२. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतुसंमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

३. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

४. येन देवा न वियन्ति च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ —अथर्व० ३।३०।१-४

(५) आपस में वैर विरोध मत होने दो। अपने सम्मान की रक्षा करो। अपने व्यवहार में सावधान रहो। एक दूसरे के ऐश्वर्य में वृद्धि करो और पहिए के अरों के समान मिलकर घूमो। एक दूसरे से मीठे वचन बोलते हुए अपना योगक्षेम करो। तुम मिलकर और एक मनवाले होकर काम करो।

(६) एक साथ मिलकर पिओ और एक साथ मिलकर खाओ। मैं तुम को एक साथ प्रेमसूत्र में बाँधता हूँ जिस तरह पहिए के अरे एक केन्द्र के चहुँ ओर घूमते हैं उसी तरह तुम गृहस्थरूपी केन्द्र के चारों ओर प्रेममय व्यवहार करते हुए बर्त्तो।

(७) तुम एक मनवाले होकर एक साथ काम करो। तुम्हारे आदर्श समान हों। तुम मिलकर यत्न करनेवाले बनो। बुद्धिमान् व्यक्तियों की तरह अपने उत्तम समाज और राष्ट्र के हितों की रक्षा करो। प्रातः और सायं तुम्हारे मन में शुभ भाव रहें तथा प्रसन्नता का सदा निवास हो।

नवजात शिशु संसार में प्रवेश करते समय ही अपने आप को स्नेहशील व्यक्तियों यथा माता-पिता और भाई-बहनों से घिरा हुआ पाता है और सब उस पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए उद्यत रहते हैं। वह सब के आनन्द और स्नेह का केन्द्र होता है। सब पारिवारिक चक्र के अरे होते हैं। यह मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ प्रारम्भ होता है। क्या तुम इससे उत्तम आरम्भ की कल्पना कर सकते हो? यह सब कुछ परिवार में ही सम्भव हो सकता है हमारे समाज का प्रारम्भ हमारे परिवार के साथ हो यह उचित ही है।

परिवार का आरम्भ किस प्रकार होता है? विवाह से परिवार

---

५. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्त सधुराश्चरन्त।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः समनसस्कृणोमि॥

६. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

७. सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन त्सवननेन सर्वान।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

—अथर्व० ३।३०।५-७

की सृष्टि होती है। यदि विवाह न होगा तो परिवार भी न होगा। संस्कृत में विवाह का अर्थ है विशेष बन्धन। जिस बन्धन में पति और पत्नी आपस में बन्धते हैं उससे उत्तम और दृढ़ कोई बन्धन नहीं होता। वेदमन्त्र में कहा गया है—

"मैं तुम को एक ही जुए में बाँधता हूँ।"

अर्थात् पति और पत्नी एक ही जुए में जुते हुए दो घोड़ों के सदृश हैं। इन दोनों में पूर्ण सौहार्द और प्रेम का होना आवश्यक है। उन्हें दाम्पत्य प्रेम की अदृष्ट डोरी में बन्धकर एक साथ चलना होता है।

परमात्मा ने पुरुष और स्त्री में नैसर्गिक पारस्परिक आकर्षण उत्पन्न किया हुआ है, और यही हमारी संख्या वृद्धि का मूल है। संख्या वृद्धि की सिद्धि अधिकांश में वैवाहिक बन्धन के स्वरूप पर निर्भर होती है। जब हम वेदों की प्राचीनता और उनमें प्रयुक्त संख्या वृद्धि विषयक वाक्य रचना पर विचार करते हैं तो वह वैदिक आदर्श की उच्चता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। ऋग्वेद कहता है—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्व गृहे॥

—ऋ० १०।८४।५२

"हे वर और वधू! तुम दोनों यहाँ ठहरो। परपुरुष वा परस्त्री का चिन्तन मत करो। पूर्ण आयु भोगो। बच्चों और बच्चों के बच्चों के साथ खेलो। अपने घर में सुखी रहो।"

यह है दाम्पत्य प्रेम का आदर्श। इस में किसी सुधार की गुंजायश नहीं है। सृष्टि के आदि से लेकर अब तक समस्त युगों और देशों में सुधारकों द्वारा सैकड़ों स्मृतियाँ और विधान बने हैं। परन्तु किसी में भी पारिवारिक जीवन का इससे उत्तम वर्णन नहीं मिलता। ऋग्वेद के इस मन्त्र में निम्न बातों का स्पष्ट उल्लेख किया है—

(१) एक पत्नी और एक पतिवाद कठोर नियम होना चाहिए।

(२) पति और पत्नी में से किसी को शरीर और मन से ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे उनमें वैमनस्य वा कटुता उत्पन्न हो।

(३) वैवाहिक जीवन स्वस्थ बच्चों की सृष्टि में फलता-फूलता है।

(४) पारिवारिक जीवन की एकरूपता ही लक्ष्य होना चाहिए। यत: वेदों में जीवन के प्रत्येक विभाग वा अङ्ग पर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है अत: विवाह और वैवाहिक जीवन भी उस लक्ष्य की पूर्ति के साधन माने गए हैं। स्त्रियों और पुरुषों द्वारा कामवासना की सन्तुष्टि कर लेने से भी सन्तान वृद्धि हो सकती है। इसके लिए वैवाहिक अनुष्ठान की भी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु व्यवस्थित संस्कृति और अव्यवस्थित वृद्धि में घोर अन्तर होता है। पशु भी सन्तानोत्पत्ति करते हैं। विवाह एक योजना होती है। स्थिरता, आत्मसंयम, प्रेम और आत्मत्याग ऐसे गुण हैं जिन का सर्वोत्तम विकास एकमात्र वैवाहिक जीवन में ही हो सकता है। यदि विवाह न हो तो माता, पिता, भाई, बहन, चाचा और चाची इत्यादि के सम्बन्धों का कोई अर्थ नहीं हो सकता।

वैदिक ऋषियों को जीवन के प्रभात में ही इसकी अनुभूति हुई थी और उन्होंने एक सार्वकालिक योजना की व्यवस्था की थी। समस्त गुणों का विकसित होना कठिन होता है। वनस्पति की साधारण खेती के लिए कृषक की चतुरता और सावधानता की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त गुणों के विकास के लिए तो इन दोनों की अत्यन्तावश्यकता होती है। वैदिक ऋषियों ने सर्वोत्तम परिणामों की उपलब्धि के लिए कई प्रकार के उपायों की व्यवस्था की थी जिन में से सर्वप्रथम उपाय वैदिक अनुष्ठान था। समाज के नेताओं के समक्ष वर और वधू प्रतिज्ञाएँ करते थे और विवाह के आध्यात्मिक अङ्ग पर बल दिया जाता था। पवित्र अग्नि की परिक्रमा से इस अवसर की पवित्रता और गम्भीरता में वृद्धि हो जाती थी। उन पवित्र प्रतिज्ञाओं का पालन करने में समर्थ बनने के लिए परमात्मा की सहायता और विशिष्ट जनों के आसीर्वाद की कामना की जाती थी। इस सम्बन्ध में वैदिक कर्मकाण्ड के कतिपय अवतरणों का उद्धृत किया जाना अप्रासङ्गिक न होगा।

विवाह संस्कार के ५ मुख्य अंग होते हैं जिनकी यहाँ मोटी रूप-रेखा दी जाती है।

पहला अंग 'मण्डप' संस्कार होता है जिसका प्रारम्भ वर और वधू के घरों पर हवन और प्रार्थना के साथ होता है। यह उस संस्कार के लिए जो तत्काल बाद किया जाता है परमात्मा की दया और अनुकम्पा का एक प्रकार से आवाहन होता है।

आस्तिकों के समस्त शुभ कर्मों और अनुष्ठानों का आरम्भ इसी उपयुक्त रीति से हुआ करता है। इस प्रथा से समाज की अत्युच्च स्थिति का बोध होता है जिसमें विवाहों का आधार शक्ति और बलात्कार नहीं अपितु वर और वधू की सद्भावना और पारस्परिक सहमति होती है। इस प्रसङ्ग को हम यहाँ ही छोड़ते हैं क्योंकि हवन और प्रार्थना की विधि लगभग समस्त संस्कारों के प्रारम्भ में एक जैसी होती हैं।

दूसरा अङ्ग 'मधुपर्क' है जो द्वार-पूजा के नाम के प्रख्यात और स्वागत का पर्याय है। इस के द्वारा वधू के पिता के घर पर वधू और उसके पक्षवाले वर का स्वागत करते हैं। वर मुख्य अतिथि और वधू आतिथ्य करनेवाली होती है। यह संस्कार बड़ा प्रभावोत्पादक होता है।

वधू कहती है— **ओ३म् विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रति ग्रह्यताम्।**
इस आसन को स्वीकार करो।

वर उत्तर देता है—**ओ३म् प्रतिगृह्णामि।**
मैं इसे स्वीकार करता हूँ।

वधू = **ओ३म् पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम्।**
यह जल है, कृपया अपने पैर धोइए।

वर = **ओ३म् प्रतिगृणाति।**
मैं स्वीकार करता हूँ।

वधू = **ओ३म् अर्घोऽअर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम्।**
यह मुख प्रक्षालन के लिए जल है, कृपया स्वीकार करो।

वर = **ओ३म् प्रति गृह्णामि।**
मैं स्वीकार करता हूँ।

लेखक की 'Marriage and Married life' विवाह और वैवाहिक जीवन पुस्तक से उद्धृत पृ० १२२-१३२।

वधू = **ओ३म् आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयं प्रतिगृह्यताम्।**
यह आचमन के लिए जल है, इसे स्वीकार करो।

वर = **प्रतिगृह्णामि।**
मैं स्वीकार करता हूँ।

वधू = **ओ३म् मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रति गृह्यताम्।**

वर = **प्रतिगृह्णामि।**
मैं ग्रहण करता हूँ।

प्रत्येक वस्तु को खाने से पूर्व आर्यजन आचमन किया करते हैं। मधुपर्क दही और शहद का मिश्रण होता है। यह मीठी वस्तु होती है जो मधुरता के साथ दी और मधुरता के साथ ली जाती है। इस अवसर पर वर जिन तीन मन्त्रों का उच्चारण किया करता है वे बड़े मधुर हैं और इस प्रकार हैं—

(१) **ओ३म् भूर्भुवः स्वः। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥**

(२) **ओ३म् भूर्भुवः स्वः। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥**

(३) **ओ३म् भूर्भुवः स्वः। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥** —ऋ० १।९०।६–८

परमेश्वर की कृपा से यहाँ वर और वधू प्रकृति की मधुरता में अपनी मधुरता का दिग्दर्शन कर रहे हैं। उनकी अवस्था माधुर्यमय है और उनके मानस पथ में आनेवाली प्रत्येक वस्तु मधुर जान पड़ती है। क्या इस संस्कार के अभिप्राय को समझनेवाला व्यक्ति इसे जटिल कह सकता है? कौन–सा गीत है जो इससे मधुर हो सकता है? मधुर वधू के इस आतिथ्य से एक और शिक्षा मिलती है। जब

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। ये ईश्वर स्मरणार्थ वाक्य हैं। वायु के झकोरे मधुर हैं। सरिताओं का प्रवाह मधुर है हमारे हृदय माधुर्यपूर्ण हों। रात्रि मधुर है और प्रभात भी मधुर है। भूमि रज मधुर है। पितृवत् आकाश मधुर हो। वनस्पति जगत् और सूर्य हमारे लिए मधुर हों। गौएँ हमारे लिए मधुर हों।

भूः—प्राणस्वरूप तथा सर्वव्यापक परमेश्वर

भुवः—दुःख नाशक तथा सर्वज्ञ परमेश्वर

स्वः—सुखस्वरूप परमेश्वर

दिनभर के काम से थककर और व्यथित होकर पति अपनी पत्नी के आदर सत्कार में सुख और शान्ति पाने के लिए घर में आए तो पत्नी के लिए आवश्यक है कि वह उसका यथोचित स्वागत करे। घर के आनन्द बड़े मधुर होते हैं परन्तु घर को मधुर बनानेवाली पत्नी होती है। होटल के और गृहस्थ के जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर होता है।

इस स्वागत का अन्तिम अङ्ग गोदान होता है। गौ हिन्दू परिवार का अनिवार्य अङ्ग होता है।

तीसरा वा मुख्य अङ्ग पाणिग्रहण संस्कार होता है। यह एक लम्बी प्रक्रिया होती है जिसमें विविध छोटे-छोटे कृत्य सम्मिलित होते हैं पहला कृत्य कन्या दान का होता है। यह इस मन्त्र के द्वारा सम्पन्न किया जाता है—

ओ३म् अमुकगोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नीमलं कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान्!

'कृपया इस अमुक नाम की और अमुक परिवार की सब प्रकार के अलंकृत कन्या को ग्रहण करो।'

इस कृत्य के पश्चात् वर-वधू का हाथ ग्रहण करता और इस प्रकार कानून की दृष्टि में पति और पत्नी बन जाते हैं। तत्पश्चात् वे मिलकर आहुति के लिए वेदी पर आते और मिलकर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हैं।

ओ३म् समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥

—ऋ० १०।८५।४७

हे उपस्थित लोगो! हम दोनों के हृदय जल के समान आपस में मिल गये हैं। जैसे प्राणवायु हमको प्रिय हैं वैसे हम एक दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे।

हम विवाह संस्कार के यज्ञ भाग को छोड़ देते हैं जो यद्यपि महत्त्वपूर्ण तो है तथापि पाठकों को नूतन प्रतीत न होगा।

इसके पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण कृत्य पवित्र अग्नि की चार परिक्रमाएँ हैं जिससे पूर्व शिलारोहण किया जाता है। शिला पर वधू का पैर रखा जाता है। वर पढ़ता है—

ओ३म् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः॥

इस पत्थर पर चढ़ और चट्टान की तरह दृढ़ बन। शत्रुता उत्पन्न करनेवालों के प्रति दृढ़ बन। उपद्रवियों पर विजय प्राप्त कर।

ओ३म् कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं पतीयमप दीक्षामयष्ट।
कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः॥

इस कन्या ने पितृ कुल को छोड़कर पति कुल को अङ्गीकार और पति के कुल को ग्रहण किया है। हम ईर्ष्या-द्वेष से पृथक् रहें।

केशमुञ्चन संस्कार जो एक साधारण कृत्य है, ध्यान देने योग्य है। वर वधू को एकान्त कमरे में ले जाकर निम्न मन्त्रों का उच्चारण करके उसके शिर के जूड़े की गाँठ खोलता है—

ओ३म् प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि॥

ओ३म् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढवः सुभगासति॥

—ऋ० १०।८५।२४-२५

मैं तुझे कानून के उन बन्धनों से मुक्त करता हूँ जिसके द्वारा तेरे पिता ने अब तक तुझे बन्धन में रक्खा हुआ था (अर्थात् ब्रह्मचर्य के जीवन से)। अब मैं तेरे साथ विवाह कर रहा हूँ और मेरे द्वारा तेरे बालों के स्पर्श से तेरा कन्यात्व समाप्त होता है। तू मुझ पति के साथ धार्मिकता और दानशीलता का जीवन व्यतीत कर।

मैं उस (वधू) को यहाँ (पितृ कुल) के बन्धनों से मुक्त करता हूँ वहाँ (पति कुल) के बन्धनों से नहीं। अब वह पति के साथ भली-भाँति ग्रथित हो गई है जिससे उसे बलवान् पति से योग्य सन्तान उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हो सके।

इसके पश्चात् वर और वधू पुनः यज्ञ कुण्ड पर आते और महत्त्वपूर्ण व्रत धारण करते हुए सप्तपदी की क्रिया सम्पन्न करते हैं।

वर कहता है—

मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम।

तेरा बाँया पैर दाहने पैर का अतिक्रमण न करे (अर्थात् दृढ़ और व्यवस्थित रहो)।

प्रत्येक पद में पृथक्-पृथक् प्रतिज्ञा की गई है—

(१) ओ३म् इष एक पदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै। बहूंस्ते सन्तु जरदष्टय:॥

अन्न (जीविका) के लिये पहला पग उठा। मेरे व्रत में मेरा अनुसरण कर। परमात्मा तेरा मार्गदर्शक हो। हम सन्तानवान् हों। हमारी सन्तान उत्तम और दीर्घजीवी हो।

(२) ओ३म् ऊर्ज्जे द्विपदी भव सा मामनुव्रता भव।

बल के लिए दूसरा पग रख। मेरे व्रत में मेरा अनुसरण कर इत्यादि।

(३) ओ३म् रायस्पोषाय त्रिपदी भव सा।

धन समृद्धि के लिए तीसरा पग रख। मेरे व्रत.......।

(४) ओ३म् मयोभवाय चतुष्पदी भव।

सुख के लिए चौथा पग रख। मेरे व्रत......।

(५) ओ३म् प्रजाभ्य: पंचपदी भव।

सन्तान के लिए पाँचवा पग रख। मेरे व्रत........।

(६) ओ३म् ऋतुभ्य: षट्पदी भव।

ऋतुओं की अनुकूलता के लिए छठा पग रख.......।

(७) ओ३म् सखे सप्तपदी भव।

प्रगाढ़ प्रेम तथा मित्रता के लिए सातवाँ पग रख.....।

हृदय का स्पर्श करते हैं—

ओ३म् मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तंमनुचित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

मैं अपने व्रत में तेरे हृदय को लगाता हूँ। मेरा चित्त तेरे चित्त के अनुकूल हो। मेरी बात को ध्यान से सुन। परमात्मा तुझे तेरे साथ संयुक्त करे।

संस्कार के इस भाग की समाप्ति कर वर वधू के माथे का स्पर्श करके उपस्थित लोगों को सम्बोधित करके कहता है—

सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन॥

यह मेरी मङ्गलकारिणी पत्नी है। आप आएँ और देखें। जाने से पूर्व इसे आशीर्वाद दो। इसके प्रति विपरीत भाव मत रक्खो।

इस पर लोग कहते हैं—

ओ३म् सौभाग्यमस्तु, ओ३म् शुभं भवतु॥

तू सौभाग्यवती हो तेरे लिए प्रत्येक वस्तु शुभ हो।

इसके पश्चात् ध्रुवदर्शन किया जाता है।

वर ध्रुव तारे की ओर संकेत करके कहता है—

ध्रुवं पश्य।

''तू ध्रुव तारे को देख।''

वधू—**पश्यामि।**

मैं देखती हूँ।

ओ३म् ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम्।

हे ध्रुव तारे! तू दृढ़ और स्थिर है। मैं भी अपने पतिकुल में स्थिर रहूँ।

वर—**अरुन्धतीं पश्य।**

अब अरुन्धती तारे को देख।

वधू—देखती हूँ।

तू अरुन्धती है (शाब्दिक रूप से तू बन्धन रहित है। परन्तु मैं तुझे बन्धन में रखती हूँ।

(कैसा लालित्यपूर्ण और कवितामय है। विवाह से स्वतन्त्रता छिन जाती है)

अब वर उच्च स्वर में कहता है—

ओ३म् ध्रुवा द्यौ ध्रुर्वा पृथिवी ध्रुवंविश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्॥

आकाश स्थिर है। पृथ्वी स्थिर है। विश्व स्थिर है। ये पर्वत स्थिर हैं। पति के घर में यह स्त्री स्थिर है।

अगला अंग जो अन्तिम है पत्नी के पति के घर आने पर पूर्ण होता है। यहाँ भी वह पुनः पवित्र अग्नि के सम्मुख लाई जाती है और पति उसके पारिवारिक अधिकारों को उसके अर्पण करता है।

ओ३म् सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रूवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥

—ऋ० १०।८५।४६

"हे वरानने! तू मेरे पिता में, जो तेरा श्वसुर है प्रीति करके चक्रवर्ती राजा की रानी के समान पक्षपात छोड़ के प्रवृत्त हो। मेरी माता जो तेरी सासु है उसमें प्रेमयुक्त होके उसी की आज्ञा में सम्यक् प्रकाशमान रहा कर। जो मेरी बहिन और तेरी नन्द है उसमें भी प्रीतियुक्त और मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ है उनमें भी प्रीति से प्रकाशमान अधिकार युक्त हो अर्थात् सब से अविरोध पूर्वक प्रीति से वर्त्ता कर।"

यह घोषणा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस समय तक वधू अपने पिता के परिवार का एक सदस्य थी। अब विवाह के कारण वह नये घर में, नये वातावरण में नए-नए अपरिचित लोगों के बीच में आ गई है। पति उसको सान्त्वना देता हुआ कहता है कि "मेरे साथ विवाह हो जाने से मेरा घर तेरा हो गया है। तू गृह स्वामिनी है। इस घर में तेरे वे ही अधिकार है जो पति के, पिता, माता और भाई-बहिनों के हैं। निस्सन्देह वह घर की रानी है। जो यह कहते हैं कि हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति निकृष्ट और हेय है वे भूल करते हैं। यह है वैवाहिक जीवन का प्रारम्भ। परन्तु अनुष्ठान अनुष्ठान ही होते हैं। उनको सार्थक बनाने के लिये आवश्यक है कि उन्हें समाज का समर्थन प्राप्त हो और वे सामाजिक वातावरण में दृढ़ रह सकें।

इसकी व्यवस्था के लिए व्यभिचार बड़ा जघन्य अपराध माना जाता था। इस प्रकार पारिवारिक जीवन से विजातीय तत्त्व को दूर रखने के लिये उसके चहुँ ओर काँटेदार तारों की यह बाढ लगाई जाती थी। विविध प्रकार के विश्वासघात के लिये विविध प्रकार के प्रायश्चित्त नियत किये गये थे। राजनियम, समाज नियम, परम्परा और वातावरण के द्वारा पारिवारिक पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्रत्येक प्रकार के यत्न किए जाते थे। ऐसा करना संस्कृति के लिए आवश्यक समझा गया था।

कदाचित् ही ऐसी कोई अच्छी बात हो जिसका समाज के किसी अंग ने घोर विरोध न किया हो। विवाह भी अपवाद नहीं है। विवाह प्रथा का समय-समय पर विरोध होता रहा है। उस

विरोध को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। कुछ लोगों ने विवाह प्रथा को भ्रष्ट अवस्था में देखकर इसका विरोध किया। उन्होंने प्राचीन वैदिक आदर्शों के अनुसार इसमें आवश्यक सुधार करने के स्थान में इसका अन्त कर देने का प्रचार किया। यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने अपने समाज-विज्ञान में इस को कोई स्थान न दिया।

वे अपनी 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक में शासक-तत्त्ववेत्ताओं को परामर्श देते हैं कि उन्हें सर्वोत्तम पुरुषों और स्त्रियों के सम्मिलन की इस प्रकार सूक्ष्म व्यवस्था करनी चाहिए जिससे देश को योग्य से योग्य सन्तान प्राप्त हो सके। प्रसन्नता की बात है कि इस प्रयोग का परीक्षण कभी नहीं किया गया। समस्त युगों और कालों के बुद्धिमान् पुरुषों ने इस योजना को निःस्सार और कपोल कल्पना बतलाकर इसका खण्डन किया है। दुःख इस बात का है कि प्लेटो ने अपने तर्कशास्त्र का निर्माण करते हुए मानवीय मनोविज्ञान पर ध्यान नहीं दिया। आज समाजवादियों के रूप में विवाह प्रथा के नए शत्रुओं का आविर्भाव हुआ है। वे विवाह और पारिवारिक जीवन को अनुचित बन्धन मानते हैं। वे पूछते हैं कि प्रत्येक पुरुष और स्त्री का अन्य प्राणियों की तरह समाज से सीधा सम्बन्ध क्यों न हो? व्यक्ति और समाज के मध्य में परिवार बाधक क्यों बने? क्या यह अस्वाभाविक अवस्था नहीं जान पड़ती है? उनका कहना है कि विवाह एक प्रकार का दासत्व, स्वतन्त्रता का अपहरण और हमारे मूर्ख पूर्वजों से चली आ रही अवांछनीय प्रथा है। वे ही नवयुवक और नवयुवतियाँ इस प्रस्ताव का समर्थन करते हैं जिनके मुँह में भोगविलास के बाधा-शून्य जीवन के स्वप्नों का पानी भर जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं इस प्रकार के जीवन के प्रलोभन बड़े प्रबल होते हैं। परन्तु वे चित्र के दूसरे पहलू को भूल जाते हैं। सौभाग्य से इस समय तक ऐसे बहुत कम प्रयोग हुए हैं और वे भी अधिक सफल नहीं हुए हैं। अभी तक कहीं पर भी विवाह शून्य समाज का निर्माण नहीं हुआ है। जब कभी नवयुवकों ने इन सीमाओं का अतिक्रमण किया तभी उनकी भर्तस्ना की गई। परन्तु समाजवादी सर्वत्र विवाह विरोधी प्रचार करते फिरते हैं। समाजवाद के मौलिक सिद्धान्तों और विवाह में असंगति क्यों होनी चाहिए? प्रत्येक अच्छी

वा बुरी चीज़ के लिए पूँजीवाद को दोष देने की प्रवृत्ति बन गई है। मैं नहीं समझता कि विवाह का पूंजीवाद के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है और विवाह प्रथा का अन्त कर देना समाजवाद का आवश्यक परिणाम है। हो सकता है कि समाजवाद के कतिपय नेताओं ने विवाह प्रथा का विरोध किया हो परन्तु यह समाजवादियों का जीवन मन्त्र क्यों माना जाय? सत्य यह है कि समाजवाद की शिक्षाओं से बने हुए भौतिक दृष्टिकोण ने मनुष्यों को अधिक इन्द्रिय लोलुप बना दिया है। उनकी संयम शक्ति नष्ट हो जाने के कारण वे भोग-विलास के प्रलोभनों का सहज ही शिकार बन जाते हैं। यह अवस्था कितनी भयावह है यह महात्मा गाँधी के १९२६ के ३ जून के 'यंग इण्डिया' में प्रकाशित नीचे के लेख से स्पष्ट हैं—

मेरे एक परिचित संवाददाता ने एक विवादास्पद बात उठाई है जो मेरी दृष्टि में विशुद्ध काल्पनिक है क्योंकि मैं जानता हूँ कि जो विचार उन्होंने प्रस्तुत किए हैं वे उनके अपने नहीं हैं। वे पूछते हैं कि क्या आजकल की नैतिकता अस्वाभाविक नहीं है? यदि यह स्वाभाविक होती तो सार्वत्रिक और सार्वकालिक होती परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक जाति और वर्ग के विवाह सम्बन्धी नियम पृथक्-पृथक् अपने-अपने ढंग के होते हैं और उन नियमों को क्रियान्वित करते हुए मनुष्य ने अपने को पशुओं से भी निकृष्ट बना लिया है। जिन रोगों का पशु-जगत् में नाम नहीं सुना जाता वे ही मनुष्य समाज में व्यापक रूप में पाये जाते हैं। बाल-हत्या, भ्रूण-हत्या और बाल-विवाह जो पशु जगत् में असम्भव होते हैं वे ही उस समाज के अभिशाप होते हैं जो विवाह को पवित्र सम्बन्ध मानता है। जिन्हें हम सदाचार के नियम मानते हैं उनसे उत्पन्न होनेवाले दुष्परिणामों का अन्त नहीं है। आह! हिन्दू विधवाओं की दयनीय अवस्था! इसका कारण क्या है? क्या इसके लिये वर्तमान विवाह प्रथा उत्तरदायी नहीं है? ऐसी परिस्थिति में प्रकृति का अनुसरण करके पशु जगत् से शिक्षा ग्रहण क्यों न की जाय?

मुझे पता नहीं है कि पाश्चात्त्य देशों में स्वतन्त्र प्रेम के प्रचारक उपर्युक्त प्रकार के तर्क का आश्रय लेते हैं वा नहीं अथवा उन के पास इनसे अधिक प्रबल हेतु हैं वा नहीं? परन्तु इतना निश्चित है कि वैवाहिक बन्धन को पाशविक माननेवाली प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः

पाश्चात्त्य है। यदि यह तर्क पश्चिम से ग्रहण किया हो तो इसका उत्तर देना कठिन हैं।

मनुष्य की पशु के साथ तुलना करना भूल है। इस प्रकार का तुलना करने से सारे तर्क का खण्डन हो जाता है। क्योंकि मनुष्य की नैतिक प्रवृत्तियाँ और प्रथाएँ पशुओं से उच्च होती हैं। प्रकृति का जो नियम एक पर लागू होता है वह दूसरे पर लागू होनेवाले नियम से भिन्न होता है। मनुष्य में विवेक-बुद्धि और स्वतन्त्र इच्छा होती है। पशु में इस प्रकार की कोई वस्तु नहीं होती। पशु न तो स्वतन्त्र कर्त्ता होता है और न वह धर्म-अधर्म और श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ में भेद कर सकता है। मनुष्य स्वतन्त्र कर्त्ता होने से इनमें भेद कर सकता है। जब वह धर्म का अनुसरण करता है तब वह अपने को पशु से उच्च सिद्ध करता है और जब वह अनीति के मार्ग पर होता है तब वह पशु से भी निकृष्ट बन जाता है। घोर असभ्य मानी जानेवाली जातियों में भी स्त्री-पुरुष के रति विषयक सम्बन्धों में संयम को थोड़ी बहुत मान्यता दी जाती है। यदि यह कहा जाय कि संयम स्वयं पाशविक होता है तब तो प्रत्येक प्रकार का असंयम मनुष्य की रीति नीति होनी चाहिए। यदि समस्त मनुष्य इस नियम विहीन नियम पर चलने लग जाएँ तो चौबीस घण्टों के भीतर-भीतर पूर्ण अराजकता व्याप्त हो जाय। पशु की अपेक्षा मनुष्य स्वभावत: अधिक विषयासक्त होता है और सब प्रकार के प्रतिबन्धों और संयम के हटते ही निरंकुश विषय वासना के ज्वालामुखी का विस्फोट होकर समस्त मानव जाति का नाश हो जाएगा। मनुष्य में आत्मसंयम और त्याग की क्षमता होती है पशु में नहीं। इसी रूप में मनुष्य पशु से श्रेष्ठ होता है। आज के बहुसंख्यक रोगों की उत्पत्ति का कारण वैवाहिक नियमों का उल्लंघन करना है। मैं किसी ऐसे व्यक्ति का उदाहरण जानना चाहूँगा जो वैवाहिक जीवन में पूर्ण संयम से रहता हुआ भी उन रोगों से पीड़ित हुआ हो जो मेरे संवाददाता के मस्तिष्क में हैं। बाल-हत्या, बाल-विवाह और इन जैसे अभिशापों का कारण भी वैवाहिक नियमों का उल्लंघन करना ही है।

नियम यह है कि संयम की क्षमता और सन्तान की इच्छा रखनेवाले स्वस्थ और वयस्क स्त्री पुरुषों को विवाह करना चाहिए। इस नियम का दृढ़ता से पालन करने और विवाह को पवित्र बन्धन

माननेवाले को दुःखी होने का अवसर प्राप्त नहीं होता। ऐसे विवाह आत्माओं का पारस्परिक मिलन होता है शरीरों का नहीं और यह सम्बन्ध स्त्री पुरुष दोनों में से किसी एक की मृत्यु के पश्चात् भी नहीं टूटता। जहाँ आत्माओं का इस प्रकार का वास्तविक मेल होता है वहाँ विधवा का विधुर के पुनर्विवाह की बात अचिन्त्य, अनुचित और अशुद्ध होती है। वैवाहिक शुचिता से शून्य विवाह नहीं कहा जा सकता। यदि आजकल हमें सच्चे विवाहों के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं तो इसमें विवाह प्रथा का दोष नहीं है दोष तो विवाह के प्रचलित स्वरूप का है जिसका सुधार होना चाहिये।

हमारे संवाददाता यह तर्क उपस्थित करते हैं कि विवाह धार्मिक वा नैतिक बन्धन नहीं अपितु एक सामाजिक प्रथा है और जो प्रथा वा रिवाज़ नैतिकता का विरोधी हो उसे मिटा देना चाहिये। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि विवाह वह घेरा हैं जिससे धर्म की रक्षा होती है। यदि इस घेरे को हटा दिया जाय तो धर्म का नाश हो जाएगा। धर्म का आधार संयम होता है और विवाह भी संयम ही होता है। संयमहीन मनुष्य को आत्मबोध की आशा नहीं हो सकती। मैं स्वीकार करता हूँ कि किसी नास्तिक वा जड़वादी के मन पर संयम की आवश्यकता अंकित करना कठिन है। परन्तु जो व्यक्ति यह जानते हैं कि शरीर नश्वर और आत्मा अनश्वर है वे स्वभावतः यह भी जानते हैं कि बिना आत्म-त्याग और आत्मसंयम के आत्मबोध असम्भव होता है। हमारा यह शरीर या तो वासना का क्रीड़ा-क्षेत्र हो सकता है या आत्मबोध का मन्दिर। यदि शरीर आत्मबोध का मन्दिर होगा, तो वासना को खुली छुट्टी न मिल सकेगी। आत्मा को प्रति क्षण शरीर को संयम में रखने की आवश्यकता रहती है। जहाँ विवाह-बन्धन ढीले होते हैं और संयम नहीं किया जाता वहाँ स्त्री वैर-विरोध का कारण बन जाती है। यदि मनुष्य पशुवत् संयम शून्य हो जाएँ तो उनके विनाश में देर न लगेगी। मेरी यह दृढ़ सम्मति है कि हमारे संवाददाता को जिन त्रुटियों की शिकायत है उनका निवारण विवाह-प्रथा का अन्त हो जाने से नहीं प्रत्युत वैवाहिक नियम को समझने और उस पर आचरण करने से सम्भव होगा।

मैं मानता हूँ कि कई जातियों में निकट सम्बन्धियों में विवाह

विहित और कई में वर्जित होता है। कुछ जातियों में बहुविवाह वैध और कुछ में अवैध होता है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहेगा कि सब जातियों में आचार विषयक नियम एक जैसे होने चाहिएँ फिर भी विभिन्नता का अभिप्राय यह नहीं है कि सब प्रकार का संयम मिटा दिया जाय। ज्यों-ज्यों हमें अनुभव से ज्ञान की प्राप्ति होगी त्यों-त्यों हमारी नैतिक भावना में सादृश्य आता जाएगा। आज भी संसार की नैतिक भावना एक विवाह की मर्यादा को अत्युच्च आदर्श मानती है और कोई भी धर्म बहुविवाह को अनिवार्य नहीं ठहराता। यदि समय और स्थान के प्रभाव के कारण इस मर्यादा में ढीलापन आ जाता है तब भी आदर्श अक्षुण्ण बना रहता है।

विधवाओं के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में मेरे विचार सर्वविदित हैं। उनकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं बाल-विधवाओं के विवाह को न केवल आवश्यक ही समझता हूँ अपितु ऐसा करना उन माता-पिताओं का अनिवार्य कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके घर में इस प्रकार की विधवाएँ बैठी हों।

(१६)

मृत्यु और उसके पश्चात्

जीवन का भौतिक दृष्टिकोण मृत्यु और उसके बाद की अवस्था पर ध्यान नहीं देता। ध्यान क्यों दिया जाय ? मृत्यु से जीवन का अन्त हो जाता है। जीवन का अन्त हो जाने पर उससे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातें भी समाप्त हो जानी चाहिएँ। परन्तु यदि मृत्यु से सब वस्तुओं का अन्त हो जाता है तो संस्कृति का प्रश्न क्यों कर उठ सकता है ? बीज के जीवन की समाप्ति का अर्थ यह नहीं होता कि उसकी समस्त तात्त्विक शक्तियों का विकास हो गया है। जीने के लिए प्रयास करते रहने का कोई अर्थ होता है। मनुष्य जीने के लिए तो प्रयास करता है मरने के लिए नहीं। इसलिए वास्तविक संस्कृति हमारे भूत, वर्तमान और भविष्य पर ध्यान देनेवाली होनी चाहिए। वैदिक संस्कृति इस बात पर विशेष ध्यान देती है। वैदिक तत्त्वज्ञान के अनुसार जीवात्मा अनश्वर और नित्य होता है। ऐसा कोई समय नहीं हुआ जब जीवात्मा का अभाव रहा हो और ऐसा भी कोई समय न होगा जब उसका अभाव होगा। इस प्रकार आत्मा के अनन्त नित्यत्व को स्वीकार करने से हमारा वर्तमान जीवन विविध जन्मों की लम्बी श्रृंखला में कड़ी का काम करता है। ये विविध जन्म पड़ाव स्वरूप होते हैं जिनमें आत्मा की बीज शक्तियों का विकास हुआ करता है।

भिन्न-भिन्न प्राणियों की जीवन-अवधि भिन्न-भिन्न होती है। मानव जीवन पर भी यही बात चरितार्थ होती है। इन जन्मों को आत्म-निर्भर इकाइयाँ मानना असंगत होगा। ऐसा मानने से कोई लाभ नहीं होता। इन इकाइयों को छोटे-छोटे पड़ाव मानने से ही कोई लाभ हो सकता है। इस प्रकार हम आत्माओं के आवागमन के सिद्धान्त पर पहुँच जाते हैं जो वैदिक संस्कृति का महत्त्वपूर्ण

सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की तर्क और मनोविज्ञान सम्मत सूक्ष्मताओं को छोड़कर यदि हम केवल सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विचार करें तो आवागमन का सिद्धान्त बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। बीज के बोने के समय से लेकर फल की प्राप्ति तक उसे विविध अवधियों वाली विविध स्थितियों की लम्बी शृंखला में से होकर गुजरना होता है और ये सब बीज शक्तियों के विकास में योग देनेवाली होती हैं। उस अवस्था में भी बीज की जीवन-शक्ति नष्ट नहीं होती। बोने से पूर्व उसका अस्तित्व था और पूर्ण रूप से विकसित हो जाने पर भी अस्तित्व बना रहेगा। जन्म के एक घण्टे के पश्चात् मर जानेवाले बच्चे के सम्बन्ध में विचार करो। यदि यह एक घण्टे का जीवन उसका एकमात्र जीवन हो तो उसका क्या विकास हो सकता है? प्रकृति ने उसे क्यों जन्म दिया और क्यों उसे अभाव की दुनिया में वापस भेज दिया। यदि तुम यह कहो कि प्रकृति बड़ी चंचल है तो उस अवस्था में संस्कृति के प्रश्न का कोई अर्थ नहीं रहता। सौ वर्षोंवाला आकस्मिक जीवन उतना ही अच्छा वा बुरा होता है जितना कुछ सेकिंडों का। यदि संस्कृति को वास्तव में अपने उद्देश्य की पूर्ति करनी अभीष्ट हो तो उसमें अधिकाधिक स्थायित्व होना चाहिए। पौधे का एक के बाद दूसरा आनेवाला प्रक्रम (स्टेज) किसान की बुद्धिमत्ता और चतुरता का द्योतक होता है। सुनिश्चित और अटल नियमों के जगत् में ही संस्कृति की प्रगति सम्भव हो सकती है। ऋग्वेद में आता है 'ऋतंचसत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत' ऋत का अर्थ है नियम वा व्यवस्था और सत्य का अर्थ है दृश्यमान् जगत्। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि नियम और उससे शासित होनेवाले जगत् को सर्वज्ञ परमात्मा ने बनाया है। प्रकृति जरा भी चंचल नहीं है। जीवन की प्रत्येक बात में सार होता है और यही सार आत्मिक विकास होता है। यदि कुछ मिनटों, घण्टों वा कुछ वर्षों के छोटे-छोटे अविकसित जीवन आत्म-निर्भर मान लिए जायें तो उस महान् विध्वंस का कोई अर्थ न होगा जो हम प्रतिदिन अपनी आँखों से देखते हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या प्रकृति इतनी विध्वंसकारिणी है? यदि मैं कुछ घण्टों तक जीवित रह पाऊँ तो क्या यह अवधि मेरे विकास के लिये अपर्याप्त न होगी? यदि मुझे

केवल एक ही जीवन प्राप्त होना हो तो उसे लेकर मैं क्या करूँगा? आत्माओं के नित्यत्व और उनकी आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकार न करनेवाली संस्कृतियों से समस्या का हल नहीं हो सकता। उनकी दृष्टि बड़ी संकुचित होती है। जो कीड़ा प्रातःकाल उत्पन्न हो, मध्याह्न में बढ़े और सायंकाल को मर जाय वह जीवन की उन समस्याओं पर क्या विचार कर सकता है जिन पर अधिक आयुवाला राजनीतिज्ञ, विज्ञान वा तत्त्ववेत्ता विचार कर सकता है? वेद इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते कि स्थूल शरीर के साथ आत्मा का अन्त हो जाता है और ना ही वे इस बात को मानते हैं कि मरने के बाद आत्मा दोज़ख (नर्क) की आग में जलता रहता है। वेदों का सन्देश आशा का सन्देश है। सुधार जब भी हो जाय तभी ठीक है। इस जीवन में असफल रहने पर दूसरे में यत्न हो सकता है। रोम का निर्माण एक दिन में न हुआ था। इसी भाँति आत्मा का सर्वाङ्गीण विकास एक जीवन में नहीं हो सकता। मोक्ष की सिद्धि शनैः शनैः होती है जिन व्यक्तियों की आस्था आत्मा के आवागमन में नहीं होती वे जीवन की वास्तविकता को नहीं समझ पाते। वे जीवन को संयोग-जन्य मानते हैं।

इस प्रकार संस्कृति का समूचा प्रश्न एक प्रश्न की ओर खिच आता है। संस्कृति कही जानेवाली वस्तु का स्वरूप क्या है? जिस वस्तु का अभाव हो वा जो वस्तु सर्वथा पूर्ण हो वह क्योंकर संस्कृत की जा सकती है? जो वस्तु बाह्य प्रभाव से विकृत हो सकनेवाली हो वही संस्कृति हो सकती है। आत्मा का स्वरूप इसी प्रकार का है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर आत्मा की तुलना वायु के साथ की गई है जो स्वतः न उष्ण होता है और न शीतल। वह जल के सम्पर्क से शीतल और अग्नि के संसर्ग से उष्ण हो जाया करता है। इस संसार में आत्मा और प्रकृति का निरन्तर संघर्ष होता रहता है। भौतिक पदार्थ चारों ओर से उस पर आक्रमण किया करते हैं। यदि हम दुर्बल होते हैं तो हम प्रकृति के जाल में फँसकर उसके दास बन जाते हैं। यदि हम बलवान होते हैं तो उस पर अधिकार करके उसका मनमाना उपयोग करते हैं। उपनिषदों के अनुसार हमारे भौतिक शरीर हमारी गाड़ियाँ होती है और हम यात्री होते हैं। यदि

गाड़ियाँ हमारे नियन्त्रण में रहें तो हम निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकते हैं। यदि वे अनियन्त्रित हो जाएं तो हमारा सर्वनाश हो सकता है। इस सत्य पर सहज ही पहुँचा जा सकता है।

यह हमारे प्रतिदिन के अनुभव की बात है। ऐसा कोई विरला ही होगा जिसे सांसारिक प्रलोभनों की शक्ति का अनुभव न हुआ हो। उन प्रलोभनों का सामना करने की हममें उतनी ही क्षमता होगी जितनी हममें संस्कृति होगी। यही हमारी संस्कृति की नाप है। क्या हम प्रकृति का साफल्य पूर्वक सामना कर सकते हैं ? यदि कर सकते हैं तो हम संस्कृत हैं। यही पापी और सन्त में भेद होता है। क्या प्रलोभनों से पराभूत हो जाने की दुर्बलता को पाप नहीं कह सकते ?

आत्मा के स्वरूप को जान लेने से हममें प्रलोभन पर विजय होने की क्षमता आती है। साधारणतः हम भौतिक विषयों में इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि हमें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। हम यह अनुभव करने लग जाते हैं कि हम केवल खाने और पीने की सत्ताएँ हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर हम सन्तोष अनुभव करते और इसी को अपनी प्रगतियों का लक्ष्य समझ बैठते हैं। यह हमारी संस्कृति की सीढ़ी का सब से नीचे का डण्डा होता है। उस अवस्था में हम शूकर के समान अत्यन्त असभ्य होते हैं। भौतिक तत्त्व के रूप में आत्मा के क्रमिक विकास के साथ हमारी संस्कृति का प्रारम्भ होता है। हम जितना अधिक इस बात को अनुभव करते हैं उतना ही अधिक हम संस्कृत होते हैं।

परन्तु यह अनुभूति सहज ही नहीं हो जाती। समस्त संस्कृतियों की तरह यह एक लम्बी प्रक्रिया होती है। हमें क्रमशः ऊँचा उठना होता है। इस प्रकार की सफलता के लिए हमारा वर्तमान जीवन बहुत थोड़ा होता है। यदि हम सर्वथा जागरूक रहें तब भी हमें आंशिक ही सफलता मिल सकती है। एक उदाहरण पर विचार करो। एक लड़का महान् गणितज्ञ बनना चाहता है। इसके लिए उसे कितना समय चाहिए। कल्पना करो वह उस देश का लड़का है जहाँ के लोगों को साधारण गिनती भी नहीं आती। उसे लिखना, पढ़ना और गणित सीखना होगा। इसके पश्चात् अङ्क गणित, बीज गणित, ज्यामिति और त्रिकोणमिति के सरल प्रश्न निकालने होंगे।

सोचो इसके लिए कितना समय चाहिए। कल्पना करो उसे जीवन के केवल २५ वर्ष प्राप्त होते हैं। क्या वह इस अवधि में कोई उन्नति कर सकेगा? इस काल में उसे गणित ही नहीं अन्य बातें भी सीखनी होंगी। प्रकृति को अपने अधिकार में करने के लिए अपनी शक्तियों का विकास करना मनुष्य के लिए बहुत बड़ा कार्य होता है। इसके लिए अनेक जन्म चाहियें। चेतन प्राणियों को देखो। वे सब भिन्न-भिन्न स्तरों पर हैं। सब धीरे-धीरे ऊपर उठ रहे हैं। बहुत से नीचे गिर रहे हैं बहुतों की उन्नति का क्रम बन्द हो गया है। बहुत से पीछे हटकर अपनी दुर्बलता का प्रायश्चित्त कर रहे हैं। उठने, गिरने और उठने का क्रम चल रहा है। इसी रीति से आत्मायें अपनी शक्तियों का विकास किया करती हैं उनके लिए एक जीवन नितान्त अपर्याप्त होता है। यदि प्रकृति किसी मनुष्य को उसके थोड़े से सुकृतों के लिए स्वर्ग प्रदान करे और दूसरे के कुछ दुष्कृत्यों के लिए शाश्वत नरक में डाले तो सचमुच वह बड़ी निर्मम होगी।

यदि प्रकृति हमारे वर्तमान जीवन पर पूर्णविराम लगा दे और हमें सुधार का अवसर न दे तो सोचो वह हम पर कितना बड़ा अत्याचार करेगी। हम प्रतिदिन बहुत से प्राणियों को मरता हुआ देखते हैं। मृत्यु के साथ उनकी संस्कृति का स्तर क्या होता है। क्या मृत्यु के पश्चात् उनके अस्तित्व का सर्वथा लोप हो जाएगा? यदि हाँ तो उस समय तक उन्हें जो संस्कृति प्राप्त हुई होगी वह उनके किस काम में आयेगी? क्या वे किसी एक स्थान पर जमा कर दिये जायेंगे? यदि जमाकर दिये जायेंगे तो वे अपनी वर्तमान सफलताओं का किस प्रकार उपयोग कर सकेंगे? उनको जमा करने के लिये कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा। ये प्रश्न हैं जो स्वभावतः किसी भी व्यक्ति के मन में उठ सकते हैं? इनका युक्तियुक्त उत्तर वेद के निम्नलिखित वेदमन्त्रों में दिया है—

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नःसोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः॥

—ऋ० १०।५९।७

पृथ्वी हमें पुनः जन्म दे और प्रकाशमान् दिव्य लोक और

वातावरण हमें पुनः जीवन प्रदान करे। सर्वोत्पादक ईश्वर, हमें पुनः शरीर (मृत्यु के बाद) दे।

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यतास्थानं कल्पयंतामिहैव॥

—अथर्व० ७।६७।१

मुझे अपने भावी जीवन में पुनः ज्ञानेन्द्रिय प्राप्त हो और सांसारिक सम्पदा तथा दिव्य ज्ञान सहित मेरी आत्मा पुनः मुझे मिल जाये जिस से मैं हवन यज्ञ और सुख समृद्धि प्राप्त कर सकूँ।

(पं० अयोध्याप्रसाद कृत Gems of Vedic wisdom पृ० १६०)

सारांश यह है कि सुधार के लिये कभी अति विलम्ब नहीं होता। हम भावी जीवन में अपनी भूलों का सुधार कर सकते हैं। हम अपनी भूतकालिक श्री में वृद्धि कर सकते हैं। जो कुछ अब तक विकसित न हो सका था उसे विकसित कर सकते हैं ऐसे भी व्यक्ति हैं जो परम्परा वा शिक्षा के कारण पुनर्जन्म के सिद्धान्त से बड़े डरते हैं। कीचड़ में रेंगनेवाला कीड़ा सन्त बन सकता है और मन्दिर, मस्जिद व गिर्जे में उपासना का जीवन व्यतीत करनेवाला सन्त कीड़ा बन सकता है यह बात उनके गले नहीं उतरती। परन्तु उनका दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक होता है। वे स्थूल शरीर को तो देखते हैं उसमें निवास करनेवाले जीवात्मा को नहीं देखते। होटल में, झोंपड़े में, छोटे घर में और विशाल राजप्रासाद में रहनेवाला एक ही व्यक्ति हो सकता है। राजप्रासाद में रहनेवाले राजा लोग भी बन्दीगृह की छोटी कोठरी में बन्द कर दिये जा सकते हैं। झोंपड़ों में जन्म लेनेवाले व्यक्ति राजा बनकर राजमहलों में निवास कर सकते हैं। हमारे शरीर हमारे निवास स्थान होते हैं। हमारा अभौतिक जीवात्मा छोटे-से-छोटे कीड़े और बड़े-से-बड़े हाथी के शरीर में समा सकता है। हमारे शरीर उपवन की क्यारियों के समान होते हैं जिनमें हमारी बीज शक्तियाँ विकसित होती हैं। निस्सन्देह हमारे शरीर हमारे संस्कृति-सदन होते हैं।

—०—



पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय विश्वप्रसिद्ध लेखकों व विद्वानों में से एक थे। आप इस युग के वैदिक विद्वानों में एक निराली विभूति थे। आपने चार भाषाओं में अत्यन्त मौलिक व रोचक साहित्य दिया। गद्य में लिखा, पद्य में लिखा। धर्म, दर्शन, इतिहास, जीवनी आदि कई विषयों पर आपने लिखा। जब कभी [illegible] विषय पर लेखनी उठाने की उमंग पैदा हुई तो ग्रन्थ रखकर ही [illegible]।

आप एक आदर्श पुत्र, आदर्श शिक्षक, महान् विचार सुधारक, पूज्य नेता, आदर्श पिता, मानव निर्माण कला के चतुर शिल्पी व लोक प्रिय साहित्यकार थे। आपने देश को कई जाने माने साहित्यकार व समाजसेवी दिये। आप अपनी पत्नी की जीवनी लिखने वाले विश्व के प्रथम प्रख्यात साहित्यकार हैं।

आपके प्रकाशित ग्रन्थों व लेखों की पृष्ठ संख्या लाखों तक पहुँचती है। आपको एक ही विषय पर यदि बीस बार भी लिखना पड़ा तो हर बार नई शैली से, नई सामग्री दी। आप अल्पायु में ही अनाथ हो गये। अपने तपोबल से महान् बने–महामानव बने।

सन् १८८१ में जन्मे श्री उपाध्यायजी ने सन् १९६८ में नश्वर देह का परित्याग किया। पूरे सत्तर वर्ष साहित्य की व समाज की अथक सेवा की।

–राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी ९८३३३५३५०३



पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय विश्वप्रसिद्ध लेखकों व विद्वानों में से एक थे । आप इस युग के वैदिक विद्वानों में एक निराली विभूति थे । आपने चार भाषाओं में अत्यन्त मौलिक व रोचक साहित्य दिया । गद्य में लिखा, पद्य में लिखा । धर्म, दर्शन, इतिहास, जीवनी आदि कई विषयों पर आपने लिखा । जब कभी किसी विषय पर लेखनी उठाने की उमंग पैदा हुई तो ग्रन्थ रखकर ही चैन लिया ।

आप एक आदर्श पुत्र, आदर्श शिक्षक, महान् विचार सुधारक, पूज्य नेता, आदर्श पिता, मानव निर्माण कला के चतुर शिल्पी व लोक प्रिय साहित्यकार थे । आपने देश को कई जाने माने साहित्यकार व समाजसेवी दिये । आप अपनी पत्नी की जीवनी लिखने वाले विश्व के प्रथम प्रख्यात साहित्यकार हैं ।

आपके प्रकाशित ग्रन्थों व लेखों की पृष्ठ संख्या लाखों तक पहुँचती है । आपको एक ही विषय पर यदि बीस बार भी लिखना पड़ा तो हर बार नई शैली से, नई सामग्री दी । आप अल्पायु में ही अनाथ हो गये । अपने तपोबल से महान् बने-महामानव बने ।

सन् १८८१ में जन्मे श्री उपाध्यायजी ने सन् १९६८ में नश्वर देह का परित्याग किया । पूरे सत्तर वर्ष साहित्य की व समाज की अथक सेवा की ।

—राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी, [illegible]